THE BOOK WAS DRENCHED

TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182857

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 82.01 D57P Accession No. 9-H. 980.

Author दीक्षित जगदीशनारायण

Title प्रसाद के नाटकीय पात्र

This book should be returned on or before the date last marked below.

'प्रसाद' के नाटकीय पात्र

लेखक

पं० जगदीशनारायण दीक्षित

ए० (हिन्दी), एम० ए० (संस्कृत), एल० एल० बी०, साहित्यरत्न

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, गया कालेज, गया

भूमिका-लेखक

साहित्यरत्न पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय

एम० ए० (हिन्दी), एम० ए० (संस्कृत), साहित्याचार्य

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,

सनातनधर्म कालेज, कानपुर

प्रकाशक

साहित्य-निकेतन

कानपुर

प्रकाशक—
साहित्य-निकेतन
श्रद्धानन्द पार्क
कानपुर।

मुद्रक—
सत्यप्रकाश भार्गव
सिंह प्रिंटिंग प्रेस,
रामनारायण बाज़ार,
कानपुर

प्रातः स्मरणीय पूज्यपिता जी

की

पुण्य-स्मृति में

सादर समर्पित

आत्म-निवेदन

'प्रसाद' के नाटकों पर अनेक आलोचनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें 'प्रसाद' की विविध नाटकीय विशेषताओं के दिग्दर्शन के अतिरिक्त उनके नाटकीय पात्रों के चरित्र–चित्रण का भी आंशिक प्रयास किया गया है। किन्तु इस प्रकार की प्रायः सभी पुस्तकों में 'प्रसाद' के नाटकों के कुछ इनेगिने पात्रों के चरित्र पर ही प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत पुस्तक में 'प्रसाद' के आठ प्रमुख नाटक 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'अजात शत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'राज्यश्री', 'ध्रुवस्वामिनी', 'विशाख' और 'कामना' के पात्रों के चरित्र का स्वतन्त्र रूप में मनोवैज्ञानिक पद्धति से अनुशीलन करने का प्रयास किया गया है। उपर्युक्त नाटकों के प्रायः सभी पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के विशद् विश्लेषण की चेष्टा की गई है, केवल उन्हीं पात्रों का ही चरित्र-चित्रण नहीं किया गया जो कार्य-व्यापार अथवा आदर्शों की दृष्टि से नगण्य हैं।

अस्तु, इस पुस्तक में जो भी विशेषताएँ हैं उनका श्रेय मेरे परम पूज्य गुरुवर पं० चन्द्रशेखर जी पाण्डेय, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, सनातन धर्म कालेज, कानपुर को है और त्रुटियों का उत्तरदायित्व मुझ पर। आपकी प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन के अभाव में इस पुस्तक का स्यात् अस्तित्व ही संभव न होता। इस पुस्तक के विषय-निर्वाचन एवं प्रतिपादन में मुझे पाण्डेय जी के अतिरिक्त अपने अन्य गुरुजनों यथा आचार्यप्रवर पं० केशवप्रसाद जी मिश्र, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस; पं० अयोध्यानाथ जी शर्मा, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, सनातन धर्म कालेज कानपुर तथा पं० मुंशीराम जी शर्मा, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, डी. ए. वी. कालेज, कानपुर से बहुमूल्य परामर्श प्राप्त हुए। मैं इनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित कर अपने को भारमुक्त करने का अभिलाषी नहीं हूँ। मुझे अपने

को उनका चिरऋणी घोषित करने में ही आन्तरिक सुख एवं कल्याण की अनुभूति होती है।

अन्त में मैं अपने सहृदय पाठकों से इस बात के लिए क्षमा याचना करता हूँ कि इस बार प्रूफ़-शोधन में जितनी शुद्धता अपेक्षित थी, न हो सकी, किन्तु उन्हें मैं यह विश्वास दिलाता हूँ कि आगामी संस्करण में, यदि उसका अवसर प्राप्त हुआ तो, इस त्रुटि का सर्वथा परिहार कर दिया जायगा।

यह पुस्तक 'प्रसाद' साहित्य के प्रेमियों एवं विद्यार्थियों का यदि कुछ भी अनुरञ्जन करती हुई उनके लिये उपादेय सिद्ध हो सकी तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

व्यास-पूर्णिमा
वि० सं० २००४
पुराना कानपुर

जगदीशनारायण दीक्षित

विषय-अनुक्रमणिका

विषय — पृष्ठ-संख्या

१—चरित्र-चित्रण की शैली — १–१६

२—'चन्द्रगुप्त' — १७–६०

[चन्द्रगुप्त १७; चाणक्य २५; सिंहरण ३३; राक्षस ३६; आम्भीक ३९; पर्व्वतेश्वर ४०; सिल्यूकस ४२; सिकन्दर ४४; नन्द ४६; वररुचि (कात्यायन) ४८; कार्नेलिया ९४; सुवासिनी ५२; कल्याणी ५४; मालविका ५७; अलका ५९]

३—स्कन्दगुप्त — ६१-११६

[स्कन्दगुप्त ६१; भटार्क ७०; पर्णदत्त ७६; शर्वनाग ८२; बन्धुवर्म्मा ८३; मातृगुप्त ८६; धातुसेन ८९; मुद्गल ९१; जयमाला ९४; अनन्त देवी ९६; देवसेना ९९; विजया १०४; रामा १०९; कमला ११२; देवकी ११४;]

४—'अजात शत्रु' — ११७–१७०

[अजातशत्रु ११७; बिम्बसार १२३; प्रसेनजित् १२७; विरुद्धक १३०; उदयन १३४; गौतम १३७; देवदत्त १४०; बन्धुल १४२; दीर्घकारायण १४४; वासवी १४७; छलना १५०; मागन्धी (श्यामा) १५३; मल्लिका १५८; शक्तिमती (महामाया) १६१; पद्मावती १६४; जीवक और वसन्तक १६७]

५—'जनमेजय का नागयज्ञ' १७१–२०५

[जनमेजय १७१; तक्षक १७५; उत्तंक १७७; काश्यप १८०; आस्तीक १८३; वासुकि १८६; माणवक १८८; सरमा १९०; मणिमाला १९५; वपुष्टमा १९८; दामिनी २००; व्यास २०३; सोमश्रवा और शीला २०४]

६—'राज्यश्री' २०६–२२५

[राज्यश्री २०६; सुरमा २११; शान्तिदेव (विकट-घोष) २१५; देवगुप्त २१९; हर्षवर्धन २२१; राज्य-वर्धन २२४]

७—'ध्रुवस्वामिनी' २२६–२५४

[चन्द्रगुप्त २२६; रामगुप्त २३०; शिखरस्वामी २३३; शकराज २३६; मिहिरदेव २३९; ध्रुवस्वामिनी २४१; मन्दाकिनी २४७; कोमा २५१]

८—'विशाख' २५५–२७८

[विशाख २५५; नरदेव २५९; प्रेमानन्द २६२; महापिंगल २६५; सत्यशील २६९; सुश्रुवा (नाग) २७१; चन्द्रलेखा २७३; इरावती २७६; रानी २७७; तरला २७८]

९—'कामना' २७९–३०२

[विलास २७९; विवेक २८४; संतोष २८७; विनोद २८९; कामना २९२; लीला २९७; लालसा २९९; करुणा ३०१]

कविवर 'प्रसाद' हमारे आधुनिक साहित्य-जगत् के अमर कलाकार हैं। उन्होंने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से हमारे साहित्य के विविध अङ्गों की पूर्ति और पुष्टि की है। काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, चम्पू, गद्य-काव्य आदि साहित्य के सभी अङ्गों पर उनकी अननुकरणीय लेखनी ने अनुपम कृतियों का निर्माण किया है। भारतेन्दु के पश्चात् हमारे साहित्याकाश में 'प्रसाद' की सी सर्वतोमुखी प्रतिभा के प्रभापुञ्ज से मण्डित किसी अन्य नक्षत्र का उदय नहीं हुआ। हमारे साहित्योद्यान में भारतेन्दु ने जिस नाट्य-कला का बीज-वपन किया था 'प्रसाद' ने उसे अपने अलौकिक प्रतिभा-पीयूष से सींच कर पल्लवित और पुष्पित किया। उनकी प्रौढ़ नाट्य-कला के परिमलमय पराग से हमारा सारा साहित्यिक वायु-मंडल आमोदपूर्ण हो रहा है। सच पूछिए तो हिन्दी के नाट्य-साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान करने का सारा श्रेय 'प्रसाद' को ही है।

'प्रसाद' की नाटकीय प्रतिभा की अनेकरूपता और उत्कृष्टता का आभास साहित्य-क्षेत्र में उनके पदार्पण करते ही मिलने लगा था। काव्य की ओर विशेष अभिरुचि होते हुए भी नाट्य-रचना की ओर उनकी आरम्भ से ही प्रवृत्ति रही है। 'अयोध्या का राजा' 'वभ्रुवाहन' आदि उनकी आरम्भिक कृतियों में ही नाटक के प्रमुख तत्व—नृत्य, गीत और कथोपकथन-उपलब्ध होते हैं। 'प्रसाद' की नाटकीय प्रतिभा का उत्तरोत्तर एवं क्रमिक विकास हुआ है। 'सज्जन' और 'प्रायश्चित्त' में उनकी जो नाट्य-प्रतिभा अंकुरित हुई थी उसी का 'विशाख' और 'राज्यश्री' में स्फुटीकरण हुआ तथा पूर्ण परिपाक 'अजात-शत्रु' 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' आदि में जा कर हुआ। साहित्य-साधना में साहित्यकार की विकासोन्मुख प्रगति उसकी सतत उदीयमान प्रतिभा की परिचायक है।

'प्रसाद' ने अपने नाटकों के कथानक का कौशेय-पट प्राचीन भारत की विस्मृत और बिखरी हुई घटनाओं के सूत्रों को संकलित कर प्रस्तुत किया है। इन कथानकों को प्रस्तुत करने में उनके पाण्डित्य और प्रतिभा का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने जिस अध्यवसाय और सूक्ष्मेक्षिका से ऐतिहासिक तथ्यों का उद्‌घाटन किया है वह उनके प्रखर पाण्डित्य का प्रकाशक है तथा तत्कालीन संस्कृति के वातावरण को जिस सजीवता एवं कौशल से चित्रित किया है वह उनकी प्रतिभा का परिचायक है। अतः यह निस्संकोच रूप से कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' के नाटकों में प्रतिभा और पाण्डित्य दोनों का मणि–कांचन संयोग संघटित हुआ है।

नाट्य-रचना के क्षेत्र में 'प्रसाद' के पदार्पण के पूर्व हिन्दी में उत्कृष्ट मौलिक नाटकों का प्रायः अभाव था। 'भारतेन्दु' ने जिस तत्परता और अभिनिवेश के साथ नाटकीय-क्षेत्र को अपनाया था वह उनके परवर्ती लेखकों के द्वारा प्रायः उपेक्षित ही रहा। बंगला और अंग्रेजी के अनूदित नाटकों द्वारा नवीन नाट्य-विधान का पथ-प्रदर्शन तो किया गया किन्तु पारसी रङ्गमंच पर खेले जाने वाले भद्दे और कुरुचिपूर्ण नाटकों ने तो मानों श्रेष्ठ साहित्यिक नाट्यरचना पर तुषारपात ही कर दिया। इसके अतिरिक्त हिन्दी में स्वतन्त्र रङ्गमंच का अभाव मौलिक नाटकों की रचना में विशेष व्याघात-कारक हुआ। ऐसी विषम परिस्थिति में 'प्रसाद' ने नाटकीय क्षेत्र में पदार्पण कर हमारे नाट्य-साहित्य का पथ प्रशस्त किया। उनकी कारयित्री प्रतिभा ने अनेक मौलिक नाटकों की सृष्टि कर हमारे साहित्य के एक प्रमुख अङ्ग के अभाव की पूर्ति की। सच पूछिये तो यह 'प्रसाद' की ही प्रतिभा का प्रसाद है कि आज हिन्दी में 'विशाख', 'राज्यश्री', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुव-स्वामिनी', और 'कामना' जैसे श्रेष्ठ मौलिक नाटक उपलब्ध हैं। हिन्दी-साहित्य को 'प्रसाद' की यह देन बेजोड़ है।

'प्रसाद' के नाटकों का महत्व केवल उनकी अनेकता और मौलिकता के ही कारण नहीं है, अपितु उनमें चित्रित मानव–जीवन की अनेकरूपता एवं विशदता के कारण भी है। उनकी साहित्य-साधना में मानव-जीवन की गहन अनुभूतियाँ अत्यन्त कलात्मक रूप से अभिव्यक्त हुई हैं। उनके चरित्र–चित्रण में समता और विषमता दोनों उसी प्रकार लिपटी हुई हैं—"चन्द्रिका अँधेरी मिलती मालती-कुञ्ज में जैसे।" उनके पात्रों में अलौकिकता के साथ ही स्वाभाविकता का भी पूर्ण सन्निवेश है। उनके आदर्श-

वाद में यथार्थवाद का समुचित सामंजस्य है। उनके नाट्य-विधान में उनकी अपनी मौलिक विशेषता है। अपनी नाट्य-रचना में 'प्रसाद' ने प्राच्य और पाश्चात्य दोनों प्रणालियों का सुन्दर समन्वय किया है। जहाँ उन्होंने अपने नाटकों में भारतीय रस-पद्धति का अनुसरण करते हुए भावुकता और कवित्व का अपेक्षाकृत अधिक समावेश किया है वहीं पाश्चात्य नाट्य-शैली के आधार पर चरित्र-चित्रण में अन्तर्द्वन्द्व एवं घटनाओं का घात प्रतिघात भी उपस्थित किया है। इसमें सन्देह नहीं कि अनेक स्थलों पर उनके कवित्व ने नाटकीय तत्व को आक्रान्त कर लिया है, फिर भी उनका चरित्र-चित्रण-कौशल अद्वितीय है। जिस प्रकार उन्होंने नाट्यशास्त्र की पञ्च-अवस्थाओं तथा पंच-संधियों का अपने नाटकों में निर्वाह किया है उसी प्रकार पाश्चात्य-पद्धति पर दृश्य-योजना और अंक-विधान भी किया है। उनके अधिकांश नाटकों की परिणति का विषय विवादास्पद है। कुछ लोग उन्हें सर्वथा सुखान्त अथवा दुःखान्त न मानकर 'प्रसाद' की स्वतन्त्र शैली के अनुसार प्रसादान्त मानते हैं। किन्तु 'प्रसाद' के आदर्शवाद के महत्व को स्वीकार करते हुए हम उनके प्रायः सभी नाटकों को भारतीय परम्परा के अनुसार सुखान्त ही मानेंगे। 'प्रसाद' के आदर्श सर्वथा आधिभौतिक न होकर रहस्योन्मुख है। अतः यदि उनके नाटकों की परिणति आधिभौतिक सुख की उपेक्षा कर आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि में ही चरितार्थ हो तो उसे हम दुःखान्त नहीं कह सकते—आधिभौतिक परिणाम के अभाव में भी आध्यात्मिक आदर्श की उपलब्धि सुखान्त की ही परिचायक मानी जायगी।

हिन्दी साहित्य में 'प्रसाद' के नाटकों पर अनेक आलोचनाएँ प्रकाशित होचुकी हैं जिनमें उनकी विविध नाटकीय विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है। किन्तु 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में जिन विविध मानवीय चरित्रों की अवतारणा की है उन पर स्वतन्त्र और विस्तृत विश्लेषण यथेष्ट रूप में नहीं प्राप्त होता। प्रस्तुत पुस्तक में इसी अभाव की पूर्ति की गई है। इसके विद्वान् लेखक पं० जगदीशनारायण दीक्षित ने 'प्रसाद' जी के सभी नाटकों के प्रायः सभी प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण इसमें एकत्र उपस्थित किया है। लेखक ने इसमें बड़ी मार्मिकता एवं सहृदयता के साथ मनोवैज्ञानिक पद्धति से पात्रों का यथावत् चरित्र-विश्लेषण किया है। इस पुस्तक की यह एक विशेषता है कि 'प्रसाद' के नाटकीय पात्रों के चरित्र-चित्रण में जो भी तथ्य निरूपित किये गये हैं उनकी पुष्टि में उपयुक्त उद्धरण भी प्रचुर परिमाण में दे दिये गये हैं। इससे पुस्तक की उपादेयता और प्रामाणिकता बहुत

बढ़ गई है। लेखक पात्रों के अन्तस्तल में बैठ कर उनके यथार्थ चरित्र का उद्घाटन करने में पूर्ण सफल हुआ है। हिन्दी में एकमात्र चरित्र-चित्रण-विषयक यह अपने ढङ्ग की प्रथम पुस्तक है। मेरा विश्वास है कि इस ग्रन्थ से न केवल परीक्षार्थी विद्यार्थियों का ही उपकार होगा अपितु साधारण पाठकों का भी अनुरञ्जन एवं ज्ञानवर्धन होगा। ऐसी सर्वाङ्गसुन्दर पुस्तक लिखने के लिए मैं लेखक का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ और आशा करता हूँ कि हिन्दी-संसार इस ग्रन्थ-रत्न का समुचित आदर करेगा।

सनातन धर्म कालेज
कानपुर
२-१-१७

चन्द्रशेखर पाण्डेय

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त धीरोदात्त नायक है। उसमें धैर्य्य, पराक्रम, उत्साह उदारता, कृतज्ञता आदि सभी वरेण्य गुण विद्यमान है। वह निर्भीक, साहसी, रणकुशल और आर्तपरायण है। उसका व्यक्तित्व मनोहर और वीरत्व व्यंजक है। कार्नेलिया के शब्दों में वह शृङ्गार और रौद्र का सङ्गम' है। उसके चरित्र में राजकुमार से सम्राट् पर्य्यन्त उसका सम्पूर्ण जीवन अङ्कित है। किशोरावस्था की चञ्चलता, यौवन का उत्साह और परिपक्ववय की गम्भीरता सभी का क्रमिक विकास है। सामान्य स्थिति से उठाकर महत्व-पूर्ण पद प्राप्त करने के लिए जो गुण किसी के लिए आवश्यक हैं वे सब देशकाल की परिस्थिति के अनुसार चन्द्रगुप्त के चरित्र में हैं। संकल्प, पुरुषार्थ, उत्साह, पराक्रम, निर्भीकता, कार्यकुशलता और सम्यक् व्यावहारिक ज्ञान के द्वारा चन्द्रगुप्त निर्वासित राजकुमार की स्थिति से उठकर सम्राट् पद को प्राप्त होता है।

जीवन में यश और सफलता का प्रथम सोपान सद्शिक्षा है। चन्द्रगुप्त तक्षशिला से शास्त्र और शस्त्रविद्या—दोनों में पूर्ण रूप से पारंगत होकर निकलता है। यवनों (यूनानियों) की रणनीति भी वह सहज ही सीख लेता है। सद्शिक्षा का महत्व पात्र को कर्तव्यज्ञान कराकर उसके लिए उसे कौशल-पूर्वक प्रेरित करने में है। चन्द्रगुप्त में सद्शिक्षा के प्रभाव से कर्त्तव्यज्ञान और कर्त्तव्य के प्रति कुशल प्रेरणा का परिचय हमें नाटक के प्रारम्भ में ही मिलता है। गुरुकुल में ही वह आम्भीक को 'प्रत्येक निरपराध आर्य की स्वतन्त्रता' के नाम पर ललकार कर अपने कर्तव्यज्ञान का परिचय देता है।

चन्द्रगुप्त के चरित्र में पराक्रम एवं साहस के अनेक उदाहरण हैं। नन्द के कारावास में वह अकेला ही प्रवेश करता है तथा राक्षस और वररुचि के देखते देखते अपने गुरुदेव चाणक्य को बन्धन मुक्त कर लेता है। फिलिप्स के द्वन्द्वयुद्ध के आमन्त्रण को वह सहर्ष स्वीकार करता है और अपने प्रचण्ड पराक्रम से उसे पराजित करता है। मालव युद्ध में वह सिकन्दर से भी डटकर लोहा लेता है और अंत में उसे घायल कर देता है। 'विजेता सिल्यूकस को भी चन्द्रगुप्त के हाथों पराजित होना पड़ा।' अपने बाहुबल और पराक्रम से वह नन्द के अत्याचारी शासन का अन्त करता है और समस्त उत्तरापथ का सम्राट् बन बैठता है।

सफल एवं स्वतन्त्र जीवन के लिए स्वावलम्बन और आत्म-सम्मान परम आपेक्षित गुण हैं। दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। स्वावलम्बन के अभाव में आत्मसम्मान की प्रतिष्ठा संभव नहीं है, और आत्मसम्मान की भावना स्वावलम्बन के लिए प्रेरित करती है। चन्द्रगुप्त में आत्मसम्मान की भावना उसकी सद्शिक्षा का ही प्रसाद है। वह चाणक्य से कहता है "आर्य्य संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने केवल यही समझा है कि आत्मसम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है।" चाणक्य के कठोर नियन्त्रण में चन्द्रगुप्त अपने आत्मसम्मान की हानि समझकर उससे कहता है "यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं? केवल साम्राज्य का ही नहीं, देखता हूँ, आप मेरे कुटुम्ब का भी नियन्त्रण अपने हाथों में रखना चाहते हैं।" इस प्रकार अपने आत्मसम्मान की रक्षार्थ वह अपने गुरुदेव एवं चिर सहचर सिंहरण को रुष्ट कर स्वावलम्बन के द्वारा जीवनपथ पर अग्रसर होता है। चन्द्रगुप्त, चाणक्य और सिंहरण के अभाव में धैर्य्य नहीं खोता है। वह कृत-सङ्कल्प होता है—"पिता गए, माता गई, गुरुदेव गए, कन्धे से कन्धा भिड़ाकर प्राण देने वाला चिर

सिंहचर सिंहरण गया। तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा और रहेगा।" सिंहरण का त्यागपत्र पाकर उसका आत्मसम्मान और स्वावलम्बनपूर्ण कठोर कर्म्मभाव प्रदीप्त हो उठते हैं—"हूँ सिंहरण इस प्रतीक्षा में है कि कोई बलाधिकृत जाय तो वे अधिकार सौंप दें। ××××चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है। और विश्वास रखो उसके नाम का जयघोष विजयलक्ष्मी का मंगलगान है। आज से मैं ही बलाधिकृत हूँ; मैं आज सम्राट नहीं सैनिक हूँ! चिन्ता क्या सिंहरण और गुरुदेव न साथ दें, डर क्या? सैनिको सुन लो आज से मैं केवल सेनापति हूँ, और कुछ नहीं। जाओ, यह लो मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दे दो। कह देना तुम दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण! चन्द्रगुप्त कायर नहीं है।" चन्द्रगुप्त की इस उक्ति में उसका तीव्र आत्मसम्मान और उत्कट स्वावलम्बन मुखरित हो उठे हैं।

चन्द्रगुप्त कर्त्तव्य परायण और अध्यवसायी है। वह भूख और प्यास की भी चिन्ता न कर दुर्गम प्रदेशों को गुरुदेव के साथ पार कर अपने लक्ष्य पर पहुँचता है। युद्धकाल में वह अनवरत अध्यवसाय कर अपनी एकनिष्ठ कर्त्तव्य परायणता का परिचय देता है। एक सैनिक के पूछने पर कि 'शिविर आज कहाँ रहेगा देव?' चन्द्रगुप्त कहता है—"अश्व की पीठ पर, सैनिक! कुछ खिला दो और अश्व बदलो। एक क्षण विश्राम नहीं।" कर्त्तव्य पूर्ति के लिए, अदृष्ट पर विश्वास रख कर 'चन्द्रगुप्त मरण से भी अधिक भयानक को आलिंगन करने के लिए प्रस्तुत है।' उसका उत्साह कभी मन्द नहीं होता क्योंकि वह आशावादी है। विजय को वह अपना 'चिर सहचर' मानता है।

सिकन्दर के समक्ष चन्द्रगुप्त की निर्भीकता और स्पष्टवादिता प्रकट होती है—सिकन्दर आम्भीक के समान उसे भी अपनी ओर

मिलाकर मगध पर आक्रमण करना चाहता है। चन्द्रगुप्त निर्भीकता पूर्वक मुँहतोड़ उत्तर देता है—

'मुझे लोभ से पराभूत गांधारराज आम्भीक समझने की भूल न होनी चाहिए; मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ। परन्तु, यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।'

सच्ची वीरता केवल प्रतिपक्षी को परास्त कर देने में नहीं वरन् विपन्न की रक्षा में है। चन्द्रगुप्त विपन्न की रक्षा के लिए सदैव सन्नद्ध सच्चा वीर है। वह कार्नेलिया के कौमार्य की रक्षा फिलिप्स से करता है और कल्याणी को चीते से बचाता है। चाणक्य ने उसके विषय में पहले ही पर्व्वतेश्वर से भविष्यवाणी की थी—"पौरव! जिसके लिए कहा गया है, कि क्षत्रिय के शास्त्र धारण करने पर आर्तवाणी नहीं सुनाई पड़नी चाहिए, मौर्य्य चन्द्रगुप्त वैसा ही क्षत्रिय प्रमाणित होगा। आर्त्तपरायण चन्द्रगुप्त निस्सन्देह सच्चा क्षत्रिय वीर है।

चन्द्रगुप्त की प्रभविष्णुता पहले से ही प्रकट है। दाण्ड्यायन उसकी अद्भुत तेजस्विता देख, उसके विषय में भारत का भावी सम्राट् होने की भविष्यवाणी करता है। सिल्यूकस भी सिकन्दर के समक्ष चन्द्रगुप्त की निर्भीकता साहस और पराक्रम को देखकर कहता है—"चन्द्रगुप्त एक वीर युवक है! यह आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता के द्योतक हैं।" पर्व्वतेश्वर चाणक्य के समक्ष मुक्तकंठ से स्वीकार करता है—"मैं क्षमता रखते हुए जिस कार्य्य को न कर सका वह कार्य्य निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया। ××××मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूँ कि चन्द्रगुप्त आर्य्यावर्त का एकछत्र सम्राट् होने के उपयुक्त है।"

चन्द्रगुप्त वीर एवं पराक्रमी होने के साथ ही शीलवान्, कृतज्ञ और और उदार भी है। अपने गुरुदेव चाणक्य के प्रति उसकी असीम भक्ति है। उनकी प्रत्येक आज्ञा को शिरोधार्य्य कर वह उसी

के अनुरूप आचरण करता है। अपने गुरू की हत्या की चेष्टा के अपराध में वह अपने पिता को भी न्यायानुसार दण्डित करना चाहता है। इसमें उसकी न्याय परायणता व्यक्त होती है। नन्द के कारागृह में अपने माता पिता की यंत्रणाओं को देख कर उसकी आत्मा तड़प उठती है—"पिता तुम्हारी यह दशा! एक एक पीड़ा की, प्रत्येक निष्ठुरता की गिनती होगी। मेरी माँ! उन सबका प्रतिकार होगा, प्रतिशोध लिया जायगा।" वह अपने माता पिता को संतुष्ट रखने के लिए ही गुरुदेव को रुष्ट कर देता है।

कृतज्ञता और अतिथि सत्कार भारतीय संस्कृति के गौरव चिन्ह हैं! चन्द्रगुप्त उनसे वंचित नहीं है। यवन सेनापति सिल्यूकस ने वन में पिपासाकुल एवं मूर्च्छित दशा में उसकी व्याघ्र से रक्षा की। चन्द्रगुप्त उसके इस उपकार को नहीं भूलता। उसने भी सिल्यूकस के प्राणों की रक्षा की। युद्ध में पराजित करके भी चन्द्रगुप्त ने उसे बन्दी तक नहीं बनाया। सिल्यूकस की प्रेरणा से ही उसे उससे युद्ध करना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने तो युद्ध प्रारम्भ होने के समय तक सिल्यूकस से यही कहा—"स्वागत सिल्यूकस! अतिथि की सी तुम्हारी अभ्यर्थना करने में हम विशेष सुखी होते।" चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर को रणक्षेत्र में घायल किया किन्तु उत्तेजित किये जाने पर भी उसका वध नहीं किया। यह उसकी उदारता का परिचायक है।

महत्वपूर्ण जीवन के लिए चारित्रक दृढ़ता परम वाञ्छनीय है। विश्व नाना प्रकार के विषयवासनायुक्त प्रलोभनों का क्रीड़ास्थल है। इनके मोह और आकर्षण में पड़कर मनुष्य अपना चरित्र खो देता है और उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाती। चन्द्रगुप्त में चारित्रिक पवित्रता और दृढ़ता पर्य्याप्त है। वह अपनी बालसङ्गिनी कल्याणी के स्पष्ट प्रणय संकेतों को अवज्ञा के कानों से सुनता है। मालविका की सरलता पर वह मुग्ध होता है और युद्ध में जाने के

पूर्व वह मुरली की एक मधुर तान सुनने की अभिलाषा करता है पर इसमें उसके हृदय की विह्वलन नहीं है। चन्द्रगुप्त की इस अभिलाषा में उसके संघर्ष और अध्यवसाय से थके मनको सङ्गीत के स्निग्ध एवं मधुर लोक में लेजाकर किञ्चित विश्रान्ति देने की कामना है। मालविका से वह अपनी मानसिक थकान का स्पष्ट परिचय देता है—"विजयों की सीमा है, परन्तु अभिलाषाओं की नहीं। मन ऊब सा गया है। झंझटों से घड़ी भर अवकाश नहीं।" इसी प्रसङ्ग में मालविका यह कहकर कि "सम्राट्, अभी कितने ही भयानक संघर्ष सामने हैं," उसे प्रोत्साहित करती है तब मानों चन्द्रगुप्त का श्रमशिथिल मन बिलबिला उठता है—"संघर्ष! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो मालविका। आशा और निराशा का युद्ध, भावों के अभाव से द्वन्द्व! कोई कमी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी सम्पूर्ण सूची में रिक्त चिह्न लगा देता है।" चन्द्रगुप्त की इस उक्ति में अधिकार सुख से न तो उदासी है और न योगियों की समाधि-कामना है। चन्द्रगुप्त मनुष्य ही है। मानव जीवन में एकरसता अरुचिकर हो जाती है। एकही प्रकार के भावों और व्यापारों में निरन्तर संलग्न रहने से मन ऊबने लगता है और एक प्रकार के एकाङ्गी जीवन के प्रति आकर्षण नहीं रहता है। राजनीति, युद्ध और संघर्षों में निरन्तर संलग्न रहने से उसका चित्त परिवर्तन के लिये पुकार उठता है। कर्त्तव्य की वेदी पर वह अपने हृदय की जिस कोमलता की आहुति देता रहा अब उसी में उसे अपने चित्त का विश्राम अनुभव होता है। चन्द्रगुप्त के चरित्र में 'साधारण-जन-सुलभ-दुर्बलता' केवल एक बार इसी अवसर पर दिखाई पड़ी अन्यथा वह सर्वत्र गम्भीर, एवं पूर्ण आत्मसंयमी है।

कार्नेलिया के साथ चन्द्रगुप्त के प्रेम-प्रसङ्ग का विकास क्रमिक एवं मनोवैज्ञानिक है। दाण्ड्यायन के आश्रम में दोनों का सर्वप्रथम साक्षात्कार होता है। पुनः वह कार्नेलिया को एक भारी विपत्ति

से बचाता है। फिलिप्स उसके साथ बलप्रयोग करने की चेष्टा में है। चन्द्रगुप्त उस नराधम से उसका उद्धार करता है। कार्नेलिया उसके शीलसौन्दर्य एवं शौर्य्य पर मुग्ध हो जाती है। चन्द्रगुप्त भी कुछ दिनों बाद उसके हृदय में अपनी स्मृति सुरक्षित देख कर उसके प्रति आकृष्ट होता है और कामना करता है कि मैं इसे चिरस्मृत रखूँ। किन्तु कठोर कर्मों के बीच उसकी स्मृति-लता मुरझा जाती है। 'प्रसाद' ने चन्द्रगुप्त का चरित्र एक वीर सेनानी एवं योग्य शासक के रूप में ही विशेष रूप से अङ्कित किया है। अतः उसके हृदय में कार्नेलिया के प्रति प्रेम की मंजुल झाँकी विस्तारपूर्वक नहीं कराई गई है। फिर भी इतिहास सम्मत चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का परिणय नाटक की आकस्मिक घटना नहीं है। दोनों में परस्पर प्रेमाकर्षण समान रूप और गुणों के आधार पर है। कात्यायन के शब्दों में यदि कार्नेलिया सिर से पैर तक भारतीय संस्कृति में पगी है तो चन्द्रगुप्त भी अप्रतिम शील, सौन्दर्य समन्वित आदर्श भारतीय वीर है। राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का विवाह सम्बन्ध परम श्रेयस्कर है। ग्रीक कुमारी कार्नेलिया के भारतसम्राज्ञी होने पर भारत और यूनान की राजनीतिक एकता स्थायी होगई और दोनों देशों में सांस्कृतिक आदान प्रदान का सूत्रपात हुआ।

मुद्रा राक्षस में चन्द्रगुप्त का चरित्र राज्यारोहण के बाद से अङ्कित है। उसमें नाटककार का मुख्य उद्देश्य चाणक्य और राक्षस के बीच चलने वाली कुटिल चालों का दिग्दर्शन कराना है। मुद्रा राक्षस में चन्द्रगुप्त के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का सर्वथा अभाव है। वह चाणक्य की इच्छा बुद्धि और उद्देश्य पर चलने वाला निष्क्रिय नायक मात्र है। चन्द्रगुप्त उसके हाथ का खिलौनारूप है। चाणक्य के व्यक्तित्व के समक्ष उसका व्यक्तित्व दब सा गया है। श्रीयुत् डी० एल० राय क 'चन्द्रगुप्त' नाटक में चन्द्रगुप्त का चरित्र

अधिक विकसित है। वह एक वीर योद्धा और योग्य शासक है। वहाँ वह चाणक्य के हाथ की कठपुतली मात्र नहीं है और न वह चाणक्य का कोरा साधन या अस्त्र ही है। फिर भी राय महोदय के नाटक में चाणक्य का चरित्र ही प्रधान है। चाणक्य की कृपा से चन्द्रगुप्त सम्राट हो पाया है। चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है किन्तु उसके चरित्र का उसमें उतना विशद विकास नहीं हो पाया है जितना चाणक्य के चरित्र का।

'प्रसाद' के 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व का विकास स्वतन्त्र रूप से तथा नाटक के वास्तविक नायक रूप में हुआ है। उनके 'चन्द्रगुप्त' में नायक चन्द्रगुप्त ही है 'चाणक्य नहीं है' जैसा कि नाटक के नामकरण से ही सिद्ध है। 'प्रसाद' कृत चन्द्रगुप्त में चाणक्य के चरित्र का भी सविस्तार निदर्शन है किन्तु चन्द्रगुप्त का चरित्र उससे धूमिल नहीं हुआ है। चाणक्य के प्रभाव में रहने पर भी चन्द्रगुप्त में साहस, पराक्रम, स्वावलम्बन, आत्मसम्मान आदि उसकी कतिपय निजी विशेषतायें हैं जिनसे उसका भी व्यक्तित्व चमकता है। नाटक के नायक होने के नाते चन्द्रगुप्त को ही नाटक का फल—अकंटक समस्त आर्य्य साम्राज्य और नाटक की नायिका कार्नेलिया से परिणय—प्राप्त होता है। 'प्रसाद' ने भी अपने नाटक में चाणक्य के चरित्र का विशद और व्यापक चित्रण किया है और उसे भी पर्य्याप्त महत्व दिया है। वह केवल इसी कारण से कि 'प्रसाद' चाणक्य सम्बन्धी ऐतिहासिक इतिवृत्त का अपलाप नहीं कर सकते थे।

---

*

चाणक्य

चाणक्य का चरित्र अत्यन्त घटनापूर्ण एवं गौरवशाली है। वह एक सामान्य आर्थिक स्थिति का विद्वान ब्राह्मण है और तक्षशिला में अध्यापन कार्य्य करके गुरुदक्षिणा चुकाता है। अध्ययन के पश्चात् घर लौटने पर उसकी नितान्त आश्रय विहीन दशा है। 'पिता का पता नहीं; झोपड़ी भी न रह गई।' उसने शास्त्रव्यवसायी न होकर सरलजीवी कृषक ही आरम्भ में बनना चाहा। परन्तु देश की तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति ने बरबस उसे अपनी ओर घसीटा। उसमें राजनैतिक प्रतिभा थी, विद्वत्ता थी, साहस और निर्भीकता थी। वह उस क्षेत्र में बड़े क्रम से साहस पूर्वक उतरा। उसने साम, दाम, दण्ड, भेद आदि कूटनीतिक चालों से समस्त उत्तरापथ, की राजनीति की बागडोर अपने हाथ में ली और उसे स्वेच्छित दिशा की ओर प्रेरित किया।

मगध का शासन अत्याचारी एवं क्रूर नन्द के हाथ में था। पञ्चनद का शासनसूत्र क्षत्रिय नरेश पर्व्वतेश्वर सञ्चालित करता था। गाँधार का राजा आम्भीक था। मालव और क्षुद्रक आदि में गणतन्त्र शासनपद्धति थी। सब एक दूसरे से स्वतन्त्र थे और व्यक्तिगत कारणों से एक दूसरे से द्वेष रखते थे। ऐसी ही परिस्थितियों में यवनों ने सिकन्दर के नेतृत्व में उत्तर पश्चिम मार्ग से भारत में प्रवेश कर भारत विजय करने की योजना की। चाणक्य ने तक्षशिला में ही यह अपनी प्रखर दूरदर्शिता से जान लिया था कि 'आगामी दिवसों में आर्य्यावर्त के सब स्वतन्त्र राष्ट्र एक के अनंतर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे।' अतः चाणक्य का स्वदेशानुराग से प्रेरित प्रथम प्रयास पारस्परिक सङ्गठन का होता है। वह

नन्द के दर्बार में यवन नीति बतलाने जाता है। यहाँ वह आर्य्यावर्त की रक्षार्थ पंचनद नरेश पर्व्वतेश्वर की सहायता के लिए अनुरोध करता है। उसकी बात अवज्ञा के कान से सुनी जाती है। चाणक्य, नन्द एवं उसके चाटुकारों द्वारा, निर्भीक तथा स्पष्ट कथन के कारण अपमानित कर बन्दी कर लिया जाता है। किन्तु उसकी आत्मा दबती नहीं है। कारावास से शीघ्र ही मुक्त होकर वह पंचनद जाता है। यहाँ उसका उद्देश्य पर्व्वतेश्वर की सहायता से चन्द्रगुप्त के लिए मगध का शासन उलटना तथा मगध और पञ्चनद की सम्मिलित शक्ति से यवनों के आक्रमण को विफल करना है। पर्व्वतेश्वर को उसकी बात ही समझ में नहीं आती। तथा वह भी उसे अपमानित कर राज्य से निकल जाने की आज्ञा देता है। स्वल्प साधनयुक्त, ऐश्वर्य विहीन स्वदेशभक्तों को, उनके प्रयत्नारंभ में इसी प्रकार का अनादर एवं उपेक्षापूर्ण व्यवहार ऐश्वर्य्यवानों से मिलता है।

चाणक्य हतोत्साहित नहीं होता है। उसका 'पददलित ब्राह्मणत्व जाग उठता है। वह अपने बुद्धिबल एवं संङ्गठन शक्ति से अशक्तों को शक्ति सम्पन्न कर ऐसे कार्य्य कर दिखाता है जिन्हें तत्कालीन बड़े बड़े नरेश नहीं कर सके और जिसकी प्रशंसा सभी देशी और विदेशी राजपुरुषों ने की। चन्द्रगुप्त और सिंहरण को अपना अस्त्र बनाकर तथा मालवों और क्षुद्रकों को सङ्गठित कर उसने मालव के युद्ध में सिकन्दर को वह गहरी पराजय दी कि जगद्विजेता बनने का उसका सारा गर्व दूर हो गया। सिकन्दर चाणक्य की अभ्यर्थना करते हुए स्वयं कहता है—'मैं तलवार खींचे आया था, हृदय देकर जाता हूँ।' पर्व्वतेश्वर चाणक्य से कहता है—"आर्य्य चाणक्य! मैं क्षमता रखते हुए जिस काम को न कर सका, वह कार्य्य निस्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया" इसी प्रकार राक्षस भी चाणक्य की बुद्धि की सराहना करते हुए कहता है—

"चाणक्य विलक्षण बुद्धि का ब्राह्मण है, उसकी प्रखर प्रतिभा कूट राजनीति के साथ दिन रात जैसे खिलवाड़ किया करती है।"

अपने राजनैतिक जीवन में उसका लक्ष्य केवल एक बार विदेशियों को पराजित कर उन्हें भारत के बाहर ही कर देना मात्र नहीं है। वह समस्त भारत को एक शासनसूत्र में बाँध कर तथा एक योग्य शासक को उस साम्राज्य के सिंहासन पर मूर्धाभिषिक्त कर देश को बाहरी आक्रमणों एवं अन्तर्विद्रोह से मुक्त कर देना चाहता है। अतः वह षड़यन्त्र और कूटनीति से मगध में राज्य-क्रान्ति कराता है तथा चन्द्रगुप्त को मगध के सिंहासन पर बैठाता है। राक्षस आदि के अन्तर्द्रोह को कठोर व्यवस्था से शान्त करता है। पर्वतेश्वर की हत्या नन्द की दुहिता कल्याणी से कराकर 'कण्टकेनैव कण्टकम्' वाली नीति का अनुसरण करते हुए पञ्चनद से लेकर मगध तक का एकछत्र शासन चन्द्रगुप्त के हाथ में सौंप देता है। गान्धार नरेश आम्भीक को अपने प्रभाव में लाकर वहां का शासक मालव सिंहरण को नियुक्त करता है। मालवगण राष्ट्र का अधिपति सिंहरण चन्द्रगुप्त का चिर सहचर है। इस प्रकार गान्धार से लेकर मगध पर्य्यन्त समस्त उत्तरापथ को एक शासन व्यवस्था में लाकर चन्द्रगुप्त को उसका प्रथम आर्य्य सम्राट घोषित करता है। चन्द्रगुप्त द्वारा सिल्यूकस को पराजित कराकर एक लम्बे समय के लिए देश को बाह्य आक्रमणों से मुक्त कर देता है। इस प्रकार उसका राजनैतिक जीवन एक महान सफलता है।

चाणक्य की इस महान् राजनीतिक सफलता का कारण उसकी प्रखर प्रतिभा तथा अन्य स्वभावज विशेषताएँ हैं। वह परम निर्भीक, साहसी एवं कठोर सिद्धान्तवादी है। तक्षशिला में ही आम्भीक को फटकारते हुए हम उसकी निर्भीकता का अनुभव करते हैं। नन्द के दर्बार में वह निर्भीकता के साथ अपने विचार व्यक्त करता है तथा अपमानित होने पर वह वहीं गरज उठता है।

'खींच ले ब्राह्मण की शिखा ! शूद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते खींच ले ! परन्तु यह शिखा नन्दकुल की कालसर्पिणी है, वह तब तक न बन्धन में बँधेगी जब तक नन्दकुल निशेष न होगा ।" वह नन्द के कारावास से त्रस्त नहीं होता वरन् राक्षस के प्रस्ताव का मर्म तत्काल ही अपनी दूरदर्शिता से अवगत कर तक्षशिला जाने के सम्बन्ध में स्पष्टरूप से कहता है—

"जाना तो चाहता हूँ तक्षशिला, पर तुम्हारी सेवा के लिए नहीं। और सुनों, पर्व्वतेश्वर का नाश करने तो कदापि नहीं ।"

वह अपने प्रिय शिष्य चन्द्रगुप्त के किंचित भ्रूभङ्ग को लक्षित कर उससे ललकार कर कहता है—

"लेलो मौर्य्य चन्द्रगुप्त अपना अधिकार छीन लो। यह मेरा पुनर्जन्म होगा ।"

वह साहसी है। घोर से घोर विपत्तियों में भी घबराता नहीं है। 'जिस प्रकार पौधे अन्धकार में बढ़ते हैं' उसी प्रकार उसकी 'नीतिलता विपत्तितम में लहलही' होती है। वह एकाकी नन्द, पर्व्वतेश्वर, आम्भीक, राक्षस, सिकन्दर और सिल्यूकस आदि महान् शक्तियों से अपने बुद्धिबल से टक्कर लेता है और उन्हें पराजित करता है।

वह कठोर सिद्धान्तवादी है। उसने प्रतिज्ञा की "दया किसी से न माँगूँगा और अधिकार और अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा ।" इसका उसने सतत पालन किया। उसने किसी के सामने सिर नहीं झुकाया और अधिकार एवं शक्ति मिलने पर उसने अपने समस्त विरोधियों को या तो निर्मूल कर दिया या अपना अनुगामी बनाया। राक्षस उसका अनुगामी हुआ। नन्द, पर्व्वतेश्वर आम्भीक आदि को निर्मूल कर दिया। उसकी "नीति में अपराधों के दण्ड से कोई मुक्ति नहीं ।" वह स्वजनों को भी दण्डित करता है। सुवासिनी को राक्षस से विवाह के लिए बाध्य किया।

चन्द्रगुप्त को उसकी किंचित अवहेलना के कारण बाह्य रूप से त्याग दिया।

वह विशुद्ध परिणाम-दर्शी है। 'परिणाम में भलाई ही' उसके कामों की कसौटी है।' चाणक्य सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हों।' छल से उसने राक्षस से मुद्रा लेकर उसके और नन्द के बीच द्वेष फैलाया, जो नन्द के विरुद्ध विद्रोहाग्नि फैलाने और चन्द्रगुप्त को मगध के सिंहासनारूढ़ करने में सहायक हुआ। वह चन्द्रगुप्त की रक्षार्थ विजयोत्सव न मनवाकर उसके पिता माता को असन्तुष्ट कर देता है। वे छोड़कर चले जाते हैं। चाणक्य इसे भी शुभ मानता है क्यों कि "इनके रहने से चन्द्रगुप्त के एकाधिपत्य में बाधा होती। स्नेहातिरेक से वह कुछ का कुछ कर बैठता।" चाणक्य पर्व्वतेश्वर को मगध का आधा राज्य देने का प्रलोभन देकर मगध क्रान्ति में उससे सहायता लेता है। पुनः कल्याणी से उसकी हत्या कराकर चन्द्रगुप्त को वह निष्कंटक कर देता है।

चाणक्य क्रूर और महत्वाकांक्षी है। वह चन्द्रगुप्त की रक्षार्थ शयन कक्ष में मालविका की हत्या करवाता है। कल्याणी की आत्महत्या से उसे क्षोभ नहीं होता। वह चन्द्रगुप्त से स्पष्ट शब्दों में कहता है—'महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है।' पर उसकी क्रूरता स्वभावज नहीं है। वह सुवासिनी के सामने स्वीकार करता है—'मैं क्रूर हूँ, केवल वर्तमान के लिए; भविष्य के सुख और शान्ति के लिए, परिणाम के लिए नहीं।' उसकी महत्वाकांक्षा स्वार्थमूलक नहीं है। वह राजाओं का नियामक है। राजा बनाना जानता है पर राज्य करना नहीं चाहता। चन्द्रगुप्त तो उसका अस्त्र मात्र है। चाणक्य चाहता तो स्वयं भारत का सम्राट् बन जाता। उसने निश्चय किया था कि 'मुझे चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चन्द्र देखकर, इस रंगमंच से हट जाना है।' अन्तिम दृश्य

में चन्द्रगुप्त को इसी स्थिति पर पहुँचाकर वह मंत्रिपद तक राक्षस को सौंप कर राजनैतिक रंगमंच से सदा के लिए हट जाता है।

चाणक्य के चरित्र में उसका निर्भीक और निस्पृह ब्राह्मणत्व उसके गौरव को विशेष उत्कर्ष प्रदान करता है। उसकी सम्मति में ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि वैभव है। वह निर्भय होकर सर्वत्र विचरता है। वह आम्भीक से ब्राह्मणोचित निर्भीकता से कहता है—'ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है ; स्वराज्य में विचरता और अमृत होकर जीता है।' वह किसी की उपेक्षा नहीं सहन कर सकता चाहे वह उसका परम स्नेहभाजन ही क्यों न हो। अपमानित होने पर उसका ब्राह्मणत्व तड़प उठता है। पर्व्वतेश्वर ने उसे देश निर्वासन की आज्ञा दी। उसका ब्राह्मणत्व गर्जन कर उठा—'रे पददलित ब्राह्मणत्व देख, शूद्र ने निगडबद्ध किया, क्षत्रिय निर्वासित करता है, तब जल-एक बार अपनी ज्वाला से जल ! उसकी चिनगारी से तेरे पोषक वैश्य, सेवक शूद्र और रक्षक क्षत्रिय उत्पन्न हों।'

उसमें ब्राह्मणोचित विद्वत्ता और निर्भीकता के साथ ब्राह्मण सुलभ उदारता और क्षमाशीलता भी है। वह अपने परम शत्रु नन्द को अपने वश में पूर्णतया करके उससे कहता है—'नंद ! हम ब्राह्मण हैं. तुम्हारे लिए, भिक्षा मांगकर तुम्हें जीवनदान कर सकते हैं। नंद के प्रति उसकी यह उदारता मौखिक नहीं है वह नागरिक वृन्द से कहता है—"नागरिक वृन्द, आप लोग आज्ञा दें—नन्द को जाने की आज्ञा।" सेनापति मौर्य्य एकान्त ध्यानावस्थित दशा में चाणक्य की हत्या के लिए प्रयत्न करता है। चन्द्रगुप्त न्याय-व्यवस्था स्वरूप उसे प्राणदण्ड देना चाहता है किन्तु चाणक्य उसे क्षमा कर देता है। चाणक्य को किसी से द्वेष नहीं। पराजित सिकन्दर से मैत्री हो जाने पर वह उसकी मंगलमय यात्रा की कामना करता है। राक्षस से उसकी निरन्तर चोटें चलती रहीं किन्तु उसके भी शरणागत होने

पर वह उसे महामंत्री पद पर अधिष्ठित करा देता है। उसने ब्राह्मणोचित आदर्श का बड़ा मनोहर रूप सुवासिनी के सामने रखा—

"मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवनदान, सूर्य्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना—नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना यही तो ब्राह्मण का आदर्श है।" उसे अपने अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि दाण्ड्यायन के आश्रम में होती है।

चाणक्य जटिल राजनीति में सदैव व्यस्त रहता है किन्तु उसके इस जीवन में भी उसके हृदय का मधुर एवं कोमल भाग यदाकदा दृष्टिगोचर हो जाता है। वह तक्षशिला से विद्याध्ययन कर जब घर आता है तब अपने पिता आदि के साथ अपनी बाल सहचरी सुवासिनी का भी स्मरण करता है 'सुवासिनी अभिनेत्री हो गई—संभवतः पेट की ज्वाला से।' सुवासिनी से वह बाल्यकाल से परिचित है। वह उसके साथ बालजनोचित आमोद प्रमोद में एक हृदय होकर रहता था। सुवासिनी की स्मृति बारम्बार सजग हो उठती है। कठोर कर्मों के समारम्भ में वह उसे भुलाने का प्रयत्न करता है। सुवासिनी के सम्मुख आजाने पर प्रणय भाव चाणक्य की आँखों से छलक पड़ता है। 'विजन बालुकासिन्धु में सुधा की लहर दौड़ पड़ती है।' किन्तु सुवासिनी के एक भ्रूभंग-मात्र से अपनी उस दुर्बलता का संकेत पाकर वह प्रकृतिस्थ हो जाता है। वह प्रणय में अन्धा नहीं होता। उसका विवेक यह बोध कराता है कि सुवासिनी का प्रणय 'स्त्री और पुरुष के रूप में केवल राक्षस से अंकुरित हुआ; और (उसके) शैशव का वह सब हृदय की स्निग्धता थी।" उसे यह विश्वास हो जाने पर कि सुवासिनी राक्षस से प्रेम करके सुखी हो सकती है वह उसे राक्षस से विवाह करने के लिए आज्ञा देता है। इस प्रकार चाणक्य "अपने हाथों बनाया हुआ, इतने बड़े साम्राज्य का शासन, हृदय की आकांक्षा के साथ अपने प्रतिपक्षी

को" सौंपकर अपनी महान् ब्राह्मणोचित त्यागमयी उदार मनोवृत्ति का परिचय देता है।

चाणक्य का जीवन अत्यन्त प्रभावोत्पादक और प्रतिष्ठा सम्पन्न है। उसके व्यक्तित्व की सराहना उसके अनुगामी ही नहीं वरन् विपक्षी तक करते हैं। पर्व्वतेश्वर, राक्षस और आम्भीक उसके त्यागमय कर्म्मठ जीवन से प्रभावित हो अपनी खल बुद्धि का परित्याग कर उसके अनुगामी बन जाते हैं। सिल्यूकस, सिकन्दर कार्नेलिया सब उसकी मुक्तकण्ठ से सराहना करते हैं और उसके विरोधी होने पर भी उसके सामने उसका अभिनन्दन करते हैं। 'प्रसाद' ने चाणक्य के गौरवपूर्ण जीवन की जो झाँकी 'चन्द्रगुप्त' में प्रस्तुत की है उसके समक्ष सभी का मस्तक श्रद्धा से नत हो जाता है, अतः यह उनकी महान् सफलता है।

सिंहरण

मालव-गण-तंत्र के राष्ट्रपति का पुत्र सिंहरण का हृदय उसकी प्रारम्भिक वय से ही स्वातंत्र्य और स्वदेशानुराग की भावनाओं से ओतप्रोत है। तक्षशिला में चाणक्य और चन्द्रगुप्त का सहवास पाकर उसे तत्कालीन राजनीति में उन्हें सक्रिय रूप देने का उसे अवसर मिला। वह आम्भीक की अविश्वासी एवं देशद्रोही नीति से आकुल हो उठा; और उसने अपनी निर्भीक प्रकृति के अनुरूप उसका खुल्लमखुल्ला विरोध किया—"हाँ हाँ, रहस्य है। यवन आक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर आर्य्यावर्त की सुख-रजनी की शान्ति-निद्रा में, उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने का रहस्य है। क्यों राजकुमार ! सम्भवतः तक्षशिलाधीश वाह्लीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गए थे ?"

सिंहरण ने तक्षशिला में अपने कार्य्यों के उपयुक्त परिस्थितियाँ नहीं पाया अतः उसने पञ्चनद में पर्व्वतेश्वर को यथेष्ट सहायता देकर यवनों के प्रतिरोध का निश्चय किया। सिकन्दर के साथ पर्व्वतेश्वर के युद्ध में वह अपर की सहायता करता हुआ स्वयं घायल हुआ। पर्व्वतेश्वर की पराजय से उसे ग्लानि हुई किन्तु वह हताश नहीं हुआ। उसने मालव में ही सैन्यसंग्रह कर चन्द्रगुप्त और चाणक्य की सहायता से सिकन्दर को वह पाठ पढ़ाया कि जगद्विजेता बनने का उसका सारा गर्व काफ़ूर होगया। वह एक साहसी, वीर और रणकुशल सेनानी है। वह एक स्थल पर अलका से कहता है—"अतीत सुखों के लिये सोच क्यों; अनागत भविष्य के लिए भय क्यों; और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बनाही लूँगा।"

चाणक्य के प्रति उसकी गुरुभक्ति अगाध है, तथा चन्द्रगुप्त उसका अनन्य सुहृद है। दोनों के प्रति उसने अपने कर्तव्यों का पालन दृढ़ता के साथ आजीवन किया। वह चाणक्य के आदेश पर ही अपना समस्त कार्यक्रम निर्धारित कर उसे क्रियात्मक रूप देता है। सिंहरण चाणक्य का इतना भक्त है कि जब चाणक्य और चन्द्रगुप्त की अनबन हो जाती है तो वह चन्द्रगुप्त का साथ छोड़ कर चाणक्य के पास चला जाता है।

चन्द्रगुप्त के प्रति उसकी मित्रता भी अनन्य भाव की है। वह उसके लिए अपने प्राणों का मोह त्याग कर उसकी सहायता के लिए सदैव प्रस्तुत है। फिलिप्स और चन्द्रगुप्त के द्वन्द्वयुद्ध के समय सिंहरण ससैन्य सहायतार्थ पास ही प्रस्तुत था। मगध की राज्यक्रान्ति में उसे सक्रिय भाग लेने का अवसर ही न मिला। सिल्यूकस के साथ चन्द्रगुप्त के संग्राम के समय यद्यपि वह परिस्थितिवश वाह्यरूप से उदासीन एवं तटस्थ था परन्तु उसकी आत्मा चन्द्रगुप्त की सहायतार्थ आकुल ही रहती थी। वह चाणक्य से कहता है—"यदि कोई दुर्घटना हुई तो? आज्ञा दीजिये अब मैं अपने को नहीं रोक सकता।" चन्द्रगुप्त से मिलकर वह यही कहता है—"हाँ सम्राट्! और समय चाहे मालव न मिले, पर प्राण देने का महोत्सव पर्व वे नहीं छोड़ सकते।" सिंहरण के हृदय में युद्ध के लिए कितना उत्साह और तत्परता है, यह चाणक्य की एक उक्ति से प्रकट हो जाता है—

"जब देश में युद्ध हो, सिंहरण मालव को समाचार मिला हो, तब उसके आने की भी आशा" उसी प्रकार है जैसे 'जब काली घटाओं से आकाश घिरा हो, रह रह कर बिजली चमक जाती हो, पवन स्तब्ध हो, उमस बढ़ रही हो और आषाढ़ के आरम्भिक दिन हों' उस समय 'जल बरसने की' आशा।

उदारता और वीरता का परस्पर मणिकांचन संयोग है। उदारता संवलित वीरता श्रद्धा का सहज आलंबन है। सिंहरण के व्यक्तित्व में हमें उसके स्पष्ट दर्शन होते हैं। 'निरीह जनता का अकारण वध' करने वाले सिकन्दर जैसे 'नृशंस' को घायल कर उसी के सैनिकों द्वारा हटवा देता है—

'यह भारत के ऊपर एक ऋण था; पर्व्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का प्रत्युत्तर है।' वह अपने प्रारम्भिक शत्रु आम्भीक को क्षमा कर अपना लेता है।

अलका के प्रति उसका प्रेम चिर परिचय और सहकार जन्य है। दोनों की प्रकृति में साम्य है। अलका और सिंहरण दोनों ही स्वदेशानुरागी, साहसी, वीर और सहृदय हैं। दोनों में परस्पर प्रेम भी अनन्यभाव से है। आर्य्य चाणक्य के आदेशानुसार 'थोड़ी देर के लिए पंचनद का सूत्रसंचालन के लिए' भी अलका वहाँ की रानी बन जाय, यह बात सिंहरण को सह्य नहीं है। उसके 'सुन्दर निश्छल हृदय से हँसी करना भी अन्याय है।' यही प्रेम की अनन्यता है। चाणक्य ने इसी को पहिचान कर दोनों का वैवाहिक सम्बन्ध करा दिया।

राक्षस

स्वर्गीय आमात्य वक्रनास के कुल में उत्पन्न ब्राह्मण राक्षस कलाकुशल विद्वान, राजनीतिज्ञ, और मगध के नन्दकुल का स्वामि-भक्त सचिव है। उसकी दृढ़ धारणा है कि 'मगध जैसे शक्तिशाली राष्ट्र का अपमान करके कोई योंही नहीं जा सकता।' पर्व्वतेश्वर ने राजकुमारी कल्याणी के विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार कर मगध का अपमान करने की धृष्टता की, जिसका फल उसे तत्काल ही मगध की सहायता के अभाव के कारण भोगना पड़ा।

राक्षस के चरित्र में तीन बातें प्रमुख हैं—सुवासिनी से प्रेम, नन्दकुल की हित कामना और चाणक्य से उसकी प्रति-द्वन्द्विता। प्रथम और द्वितीय का तृतीय से जनक-जन्य सम्बन्ध है। सुवासिनी के प्रति राक्षस का प्रणय-भाव, और मगध की हित कामना ही चाणक्य की प्रतिद्वन्द्विता में उसे लाई। प्रणय में तो वह सफल हुआ किन्तु मगध को वह चाणक्य के कूटचक्रों से न बचा सका।

सुवासिनी के प्रति उसका प्रेम, उसके सौन्दर्य और संगीत कुशलता के कारण हैं। राक्षस स्वयं कलाविद् एवं संगीतज्ञ है। प्रथम परिचय के बाद ही उसका प्रेम उन्माद का रूप धारण करता है—सुवासिनी 'एक लालसा है, एक प्यास है।' उसके बिना उसकी विद्या परिष्कृत विचार सब व्यर्थ हैं। उसके लिए वह 'सौ बार मरने को तय्यार है।' सुवासिनी के प्रति अपने प्रेम की अक्षुण्णता में वह किसी प्रकार का व्याघात् या व्यवधान नहीं सहन कर सकता चाहे वह नन्द हो या चाणक्य। ऐसा होने पर उसके भीतर एक दुष्ट प्रतिभा, जो सचेष्ट रहती है जाग उटती है, और उसका प्रतिकार वह

प्राणपण से करता है। विलासी नन्द से सुवासिनी को बचाने के लिए वह ठीक समय पर आ पहुँचता है। जब उसे मालूम हुआ कि चाणक्य के हृदय में भी सुवासिनी की मूर्ति अंकित है तब वह समझ गया कि "चाणक्य चाहे राजनीति का आचार्य हो जाय चाहे विरक्त तपस्वी, सुवासिनी को वह नहीं भूल सकता।" अतः उसका प्रणय उसकी राजनीति एवं कूटनीति का प्रेरक बन जाता है तथा वह मगध में षड़यन्त्रों एवं पारस्परिक विद्वेष का ऐसा वात्याचक्र प्रस्तुत करता है कि चाणक्य भी चकराकर पूँछता है 'राक्षस तुम्हारे मन में क्या है ?'

राक्षस का प्रेम एकांगी नहीं है। उसका प्रेमालम्बन भी उसकी ओर उसी के समान आकृष्ट है। सुवासिनी अपने को 'आमात्य राक्षस की धरोहर' समझती है और उसे खोजने वह स्वर्ग तक जाने को तय्यार है।

उसका राजनैतिक चरित्र एवं स्वामिभक्ति संकुचित, स्वार्थपूर्ण एवं प्रभाहीन है। वह वैयक्तिक कारणों से आर्य्य राष्ट्र के शत्रु सिकन्दर के विरुद्ध पोरस को प्रत्यक्ष सहायता देना अस्वीकार करता है। वह अपने स्वामी के परम शत्रु चन्द्रगुप्त का हाथ पकड़कर सिंहासन पर बैठाता है और स्वामी के हत्याकारी शकटार के सहयोग में मंत्रिपरिषद् का कार्य करना स्वीकार करता है। वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि के लिए विदेशी शत्रु सिल्यूकस से जा मिलता है और शत्रुपक्ष को देश की बहुत सी भेदभरी बातें बताकर उसे आक्रमण के लिए उत्तेजित करता है। यह उसका स्पष्ट विश्वासघात और देशद्रोह है। उसके इस कार्य की निन्दा उसकी शिष्या कार्नेलिया तक करती है—'मेरे यहाँ ऐसे ही लोगों को देशद्रोही कहते हैं।' वह राजनीति में कर्णिक का अनुगामी बनता है कि 'शत्रु का नाश करदो'। किन्तु इस सिद्धान्त के प्रतिपादन की न तो उसमें क्षमता है और न विवेक ही।

चाणक्य के साथ उसकी शत्रुता स्वभावज सी है। चाणक्य कुरुप, कठोर, शुष्क और निरपेक्ष है। राक्षस संगीत, सुरा और सौन्दर्य प्रेमी, कलाविद्, भावुक और कोमल है। नन्द की सभा में प्रथम साक्षात्कार में ही वह चाणक्य के विचारों से, उसकी भयानक आकृति एवं कर्कश निर्भीक वाणी के कारण, असहमत हो उठता है और यहीं से प्रतियोगिता की नींव पड़ती है। राक्षस चाणक्य को नितान्त उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। कल्याणी से वह कहता है—'मैं इसका मुंह भी नहीं देखना चाहता।' फिर भी वह समझता है कि चाणक्य से उसका द्वन्द्व अनिवार्य है। किन्तु यथार्थ में वह चाणक्य का उपयुक्त प्रतिद्वन्द्वी नहीं प्रतीत होता। चाणक्य की उँगलियों पर वह नाचता है। चाणक्य के झाँसे में आकर वह अपनी अँगुलीय मुद्रा तक उसे दे देता है। वह नन्दकुल का नाश चाणक्य के हाथों न तो रोक सकता है और न कूटनीति के द्वारा वह चन्द्रगुप्त की हत्या अथवा उसे अपदस्थ करा कर चाणक्य को विफल मनोरथ ही कर सकता है। उसे उसकी प्रेयसी सुवासिनी और मगध का मंत्रिपद चाणक्य की उदारता के कारण ही मिल सके। उसका निजी पुरुषार्थ अथवा बुद्धि उसकी अधिक सहायता न कर सके। वास्तव में प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में राक्षस का चरित्र इतना गौरव पूर्ण नहीं है जितना विशाख के 'मुद्राराक्षस' में। इसमें न तो उसकी वैसी उत्कट स्वामिभक्ति ही अंकित है, और न कूटबुद्धि ही। 'मुद्राराक्षस' में राक्षस की स्वामिभक्ति सतत निर्वाहयुक्त है तथा चाणक्य के द्वारा उसकी पराजय बुद्धि हीनता के कारण नहीं वरन् परिस्थिति जन्य है। 'चन्द्रगुप्त' के राक्षस में कूटनीति उपयोगी बुद्धिबल का अभाव है। वह चाणक्य का उपयुक्त प्रतिद्वन्द्वी ही इसमें नहीं प्रतीत होता है। वह प्रकाण्ड राजनीतिज्ञ तथा कूटनीति के आचार्य चाणक्य के समक्ष राजनीति और कूटनीति का बौना तथा सदाचार एवं परमार्थ गुणों से विहीन प्रतीत होता है।

आम्भीक

आम्भीक अविवेकी, स्वार्थी, और दम्भपूर्ण है। वह पर्व्वतेश्वर से व्यक्तिगत द्वेष के कारण, समस्त आर्य्य राष्ट्र के शत्रु सिकन्दर को सहायता देना स्वीकार कर अपने अविवेक एवं अदूर-दर्शिता का परिचय देता है। वह अपने तुच्छ आत्मगौरव की भावना से इतना अभिभूत है कि राजनीति और अर्थनीति के आचार्य चाणक्य का निर्देश भी नहीं मानता। उसकी बहिन अलका और उसका पिता दोनों ही उसकी दुर्नीत के कारण अपना देश और घर छोड़ देते है। बहिन के गृह-त्याग पर उसका विवेक क्षणिक रूप से सजग होता है—"इस अवस्था में तो लौट आता, पर वे यवन सैनिक छाती पर खड़े हैं। पुल बँध चुका है। नहीं तो पहिले गांधार का नाश होगा।" इसके पश्चात् कुछ समय तक तो वह अपनी स्वार्थमयी दुर्नीति की आँधी में इतने वेग से उड़ता है कि वह अलका को भी पर्व्वतेश्वर की सहायता करने के कारण बन्दी करता है। अन्त में वह यवनों की पराधीनता से पीड़ित होता है। चाणक्य के उपदेश से और अलका के स्वदेश हित त्यागमय जीवन से अनुप्राणित हो, आम्भीक अपने व्यर्थ के अभिमान को छोड़ता है। वह साम्राज्य की सदस्यता स्वीकार करता है तथा अलका और सिंहरण को गाँधार महाप्रदेश का शासन समर्पित कर यवनों के सम्मुख अपना कलङ्क धोने का अवसर चाहता है। परमार्थ प्रेरित प्रवञ्चना भी देशकाल से वरेण्य है। सिल्यूकस के साथ आम्भीक की प्रवञ्चना स्वदेश-कल्याण कामनाजन्य है। संग्राम-भूमि में सिल्यूकस के साथ युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त कर वह अपना कलङ्क वास्तव में धो डालता है।

पर्व्वतेश्वर

'चन्द्रगुप्त' में पञ्चनद-नरेश पर्व्वतेश्वर का चरित्र उद्धत और विलासी रूप में अङ्कित है। वह राजनीति से अनभिज्ञ और दर्पयुक्त है। वह प्राच्य देश के बौद्ध और शूद्र राजा नन्द की कन्या से सम्बन्ध करना अस्वीकार कर देता है। चाणक्य की सलाह के अनुसार, चन्द्रगुप्त की सैनिक सहायता कर मगध राज्य की लक्षाधिक सैन्य के सहयोग का लाभ भी वह त्याग देता है, तथा अपने दर्प में वह चाणक्य को राज्य से निकल जाने की आज्ञा देता है। सिकन्दर के साथ एकाकी युद्ध में वह निस्सन्देह क्षत्रियोचित उत्साहपूर्ण वीरता और साहस का परिचय देता है। हाथियों के प्रत्यावर्तन से हतोत्साहित न होकर वह अपने सेनापति को आज्ञा देता है—"सेनापति! देखो, उन कायरों को रोको। उनसे कह दो कि आज रणभूमि में पर्व्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिन्ता नहीं। इन्हें बतला देना होगा कि भारतीय लड़ना जानते हैं। बादलों से पानी बरसने की जगह बज्र बरसे, सारी गजसेना छिन्न भिन्न हो जाय, रथी विरथ हों, रक्त के नाले धमनियों से बहें, परन्तु एक पग भी पीछे हटना पर्व्वतेश्वर के लिये असम्भव है।" पराजित पर्व्वतेश्वर सिकन्दर के समक्ष भी प्राणभिक्षा न मांग कर एक नरपति का अन्य नरपति के संग व्यवहार मांगता है। पर्व्वतेश्वर की पराजय, उसमें यथेष्ट वीरता के अभाव से नहीं, वरन् देश-कालोपयोगी राजनीति के अभाव से तथा दुर्दैव की प्रेरणा से है।

पराधीनता अभिशाप है। वह स्वतंत्रता के साथ नैतिक बल भी नष्ट कर देती है। पर्व्वतेश्वर का चरित्र इसका ज्वलन्त उदाहरण है। वह सिकन्दर के साथ मैत्री रूप में उसकी पराधीनता

स्वीकार कर स्वदेश सम्मान आदि भूल, विषय लोलुपता में पड़ जाता है। वह पहिले अलका को अपने विलास भवन में लेजाना चाहता है। अलका से सिकन्दर को सैनिक सहायता न देने की प्रतिज्ञा कर वह उसे भी भंग करता है। उसकी विवेकहीन दुर्नीति उसे असफलता की ही ओर घसीटती है। अलका भी उसके हाथ से निकल जाती है और सिकन्दर भी उसकी उपेक्षा करता है। वह हताश होकर आत्महत्या के लिए प्रस्तुत होता है। यह उसका पूर्ण रूपेण नैतिक दिवालियापन है। मगध का आधा राज्य पाने के प्रलोभन में वह मगध की राज्यक्रान्ति में सहयोग देता है। क्रान्ति के सफल होने पर भी उसे मगध का आधा राज्य न मिला। अतः वह उसकी प्राप्ति के लिए सक्रिय उद्योग नहीं करता वरन् कामुकतावश मगध की राजकन्या कल्याणी को अपनी प्रियतमा बनाकर वह मगध का राज्य हस्तगत करना चाहता है। जिस कल्याणी के लिए सम्मानपूर्ण ढंग से किए गए विवाह प्रस्ताव को उसने क्षत्रियोचित दर्प में अस्वीकार कर दिया था उसी के प्रति लोलुपतावश उसका आकर्षित होना उसकी निकृष्ट विलासी मनोवृत्ति का परिचायक है। उसे, अपने इस नैतिक पतन का, समुचित दण्ड भी मिलता है। बलपूर्वक पकड़ने की चेष्टा में कल्याणी छुरा मार कर उसके जीवन का अन्त कर देती है।

'प्रसाद' ने पर्व्वतेश्वर के चरित्र में सिकन्दर के समक्ष इतिहास सम्मत स्वल्प वीरता के अतिरिक्त किसी अच्छे गुण का समावेश नहीं किया। मिथ्या गर्व, राजनैतिक अदूरदर्शिता एवं कामुकता के अतिशय निदर्शन से उसका चरित्र बहुत कुछ गिरा दिया गया है। सिकन्दर के साथ साहसपूर्ण संघर्ष कर जो श्रद्धा उसके व्यक्तित्व के प्रति स्फुरित होती है, वह उसकी कामुकता की कालिमा में विलीन हो जाती है।

सिल्यूकस

यवन-सेनापति सिल्यूकस वीर, साहसी, और उदार है। वह यवन रणकला का पंडित तथा यवन संस्कृति का मर्मज्ञ है। आपत्ति में पड़े हुओं की रक्षा करना सभी सभ्य जातियों का साधारण गुण है। वह पिपासाकुल मूर्छित चन्द्रगुप्त की व्याघ्र से रक्षा करता है। चन्द्रगुप्त को अपने शिविर में आतिथ्य के लिए निमंत्रण देना उसकी उदारता का परिचायक है। वह किसी के गुण एवं अवगुण शीघ्र ही अवगत कर उसके अनुसार उसका प्रतिकार करता है। फिलिप्स ने उसकी कन्या कार्नेलिया के साथ बल प्रयोग करने की धृष्टता की, तथा सिकन्दर के कान उसके विरुद्ध भरे। सिल्यूकस सिकन्दर के समक्ष ही निर्भीकता पूर्वक उसकी भर्त्सना करता है। चन्द्रगुप्त के सौजन्यपूर्ण व्यवहार एवं वीरता से वह प्रभावित होता है। सिकन्दर ने चन्द्रगुप्त को अपने शिविर में आमन्त्रित कर उसे बन्दी करने की चेष्टा की। चन्द्रगुप्त के पराक्रम से वह सफल न हो सका। सिल्यूकस एक सच्चे विचारशील व्यक्ति की भाँति अपने स्वामी के इस कार्य्य की आलोचना उसके समक्ष करता है—"आपका अविवेक! चन्द्रगुप्त एक वीर पुरुष है! यह आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता का द्योतक है। सम्राट्! हम लोग जिस कार्य्य के लिए आए हैं उसे करना चाहिए।"

सिल्यूकस ने सिकन्दर के बाद भी भारत विजय की चेष्टा की। इस विजय यात्रा के मूल में यवन संस्कृति से अनुप्राणित 'सिकन्दर से बड़ा साम्राज्य–उससे बड़ी विजय' पाने की महत्वाकांक्षा थी। वह 'अपनी कन्या के सम्मान की रक्षा करने वाले का वध' नहीं करना चाहता था। वह चन्द्रगुप्त को क्षत्रप बना देना चाहता था। इसी

लिए उसने साइबर्टियस को दूत बनाकर भेजा था। सिल्यूकस हत्यारा नहीं था। उसमें केवल विजेता होने की महत्वाकांक्षा थी।

सिल्यूकस एक सेनानी के नाते पराक्रमी और वीर था। पर्वतेश्वर के समक्ष उसने डटकर युद्ध किया और सिंहरण को घायल भी किया। चन्द्रगुप्त के हाथों पराजित होने पर भी वह उससे अपमान पूर्ण शर्तों पर मैत्री नहीं करना चाहता। वह मेगास्थनीज से अपने वीर स्वभाव के अनुकूल कहता है—"तो क्या ग्रीक इतने कायर हैं! युद्ध होगा साइबर्टियस! हम सबको मरना होगा।"

सिल्यूकस वीर है पर साथ ही वह विवेकयुक्त है। अपनी कन्या कार्नेलिया के प्रति उसके हृदय में असीम ममता है। ग्रीक साम्राज्य की संकटपूर्ण राजनैतिक परिस्थितियों के कारण, तथा वात्सल्य प्रेम की प्रेरणा से वह चन्द्रगुप्त से सन्धि कर उसे अपनी कन्या समर्पित कर देता है।

'प्रसाद' ने 'चन्द्रगुप्त' नाटक में विदेशी पात्रों में सिल्यूकस का चरित्र ही विशदता से उच्चकोटि का चित्रित किया है। वीरता, उदारता कृतज्ञता आदि सात्विक भाव किसी एक देश की ही सम्पत्ति नहीं है। वे सार्वभौमिक एवं मानव हृदय सुलभ हैं। सिल्यूकस इनका एक अच्छा उदाहरण है।

सिकन्दर

ग्रीक-सम्राट् सिकन्दर पराक्रमशील, साहसी, एवं रणकुशल है। समस्त पश्चिमी एशिया-खण्ड को पादाक्रांत कर वह भारत विजय करने आता है। गान्धार-नरेश आम्भीक को अपनी ओर मिलाकर वह पंचनद पर आक्रमण करता है, और प्रचण्ड पराक्रमी पर्वतेश्वर को पराजित करता है। वह चन्द्रगुप्त को भी, आम्भीक की तरह, अपनी ओर मिलाकर मगध पर आक्रमण करना चाहता है, पर इसमें वह असफल होता है। वह 'अपनी कूटनीति से प्रत्यावर्तन में भी विजय चाहता है। अपनी विद्रोही सेना को स्थल मार्ग से लौटने की आज्ञा देकर नौबल के द्वारा वह स्वयं, सिंधुसंगम तक के प्रदेश, विजय करना चाहता है।' किन्तु मालव के रणक्षेत्र में उसे मुँह की खानी पड़ती है।

सिकन्दर साहसी है। वह 'केवल सेनाओं को आज्ञा देना नहीं जानता' वरन् स्वयं आगे होकर युद्ध करता है। मालव दुर्ग पर अधिकार करने के लिए वह स्वयं आगे बढ़ता है और सिंहरण के हाथों घायल होता है।

सिकन्दर वीर और पराक्रमी होने के साथ ही उदार भी है। पर्वतेश्वर के पराजित होने पर भी वह उसके साथ राजोचित व्यवहार करता है। महात्माओं एवं गुणी पुरुषों के प्रति वह श्रद्धा एवं सम्मान प्रदर्शित करता है। दाण्ड्यायन के आश्रम पर स्वयं जाकर वह उसकी अभ्यर्थना करता है, तथा उसके उपदेश बड़ी श्रद्धा के साथ सुनता है। वह चाणक्य के प्रति भी समुचित श्रद्धा और सौहार्द व्यक्त करता है। भारतीयों के साहस और सौजन्य से प्रभावित होकर वह भारत का मुक्तकण्ठ से अभिनन्दन करता है—

—"मैंने भारत में हरक्यूलिस, एचिलिस की आत्माओं को भी देखा और देखा डिमास्थनीज को। संभवतः प्लेटो और अरस्तू भी होंगे। मैं भारत का अभिनन्दन करता हूँ।"

'प्रसाद' ने अपने नाटक में चन्द्रगुप्त द्वारा, सिकन्दर को 'लूट के लोभ से अन्य व्यवसायियों को एकत्र' करने वाला कहलाया है। सिकन्दर पर एक अन्य आरोप भी है कि 'इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है।' सिकन्दर, नाटक के नायक चन्द्रगुप्त का प्रतिपक्षी है। विपक्ष में नायक-विरोधी गुणों का दिग्दर्शन नायक के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करता है। सिकन्दर के क्रूर एवं अनियमित सैनिक व्यक्तित्व के समक्ष सात्विक वीरतायुक्त चन्द्रगुप्त का चरित्र उत्कृष्ट हो गया है। साथ ही सिकन्दर पर इन आरोपों के मूल में 'प्रसाद' की राष्ट्रीय भावना है। ऐतिहासिकों ने सिकन्दर की विजय यात्राओं की प्रशंसात्मक व्याख्या की है। किसी राष्ट्रीय साहित्यिक की दृष्टि में उसके राष्ट्र पर आक्रमण करने वाला सर्वथा सद्गुणालंकृत नहीं हो सकता। अतः सिकन्दर के चरित्र पर 'प्रसाद' के ये आरोप चाहे स्पष्टरूप से इतिहास सम्मत न हों पर राष्ट्रीय साहित्य की दृष्टि से उन्हे उचित ही ठहराया जायगा।

नन्द

महापद्म की जारज संतान एवं मगध का निरंकुश, क्रूर और स्वेच्छाचारी नरेश, नन्द, 'राजपद का अपवाद' है। वह अपने पिता की हत्या करके राजसिंहासन पर बैठा। उसने अपने राज्य के समस्त स्वतन्त्र विचारशील व्यक्तियों को या तो निकलवा दिया, या उन्हें कारावास में अनिश्चित काल के लिए डाल दिया। वह बौद्ध है और चाटुकारों से सदैव घिरा रह कर स्वेच्छा पूर्वक शासन करता है।

नन्द, दम्भ और अविवेक के कारण अपने शत्रु और मित्र को यथार्थ रूप में नहीं पहचान पाता और नीतियुक्त सदुपदेशों की अवज्ञा करता है। वह चन्द्रगुप्त, कल्याणी और चाणक्य को उनके स्पष्ट और निर्भीक कथन के कारण, अपमानपूर्ण ढङ्ग से निकलवा देता है।

'प्रसाद' ने नन्द का चरित्र एक क्रूर, विवेक-शून्य एवं विलासी नरपति के रूप में अङ्कित किया है। वह सुरा और सुन्दरियों के बीच अपना कालयापन करता है। अपने प्रिय सचिव राक्षस की प्रेयसी सुवासिनी को बलपूर्वक वह अपने वश में करना चाहता है। अपनी क्रूर मनोवृत्तिवश मौर्य्य-सेनापति को अँधकूप में डलवा देता है तथा उनकी पत्नी को भी, जो उनके उद्धार के लिए प्रार्थना करने गई थी, वही दण्ड देता है। अपने अमात्य वररुचि को नीतियुक्त कथन के कारण वह दण्डित करता है। वह विवेकभ्रष्ट होकर अपने परम हितैषी मन्त्री राक्षस को उसके विवाहकाल में मण्डप से ही पकड़वा मँगाता है तथा बिना परिस्थितियों का विचार किए ही उसे अन्धकूप में डालने की आज्ञा देता है।

अत्याचार अपनी पराकाष्ठा को पहुँच कर उसके कर्ता को ही ग्रस लेता है। नन्द ने अपना नाश अपने अविवेक और क्रूरता के कारण ही करवाया। चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने उसकी दुर्नीति से प्रतिफलित वातावरण में अपना मनोरथ सिद्ध किया। नन्द का शासन आदि से लेकर अन्त तक राष्ट्रविरोधी एवं स्वार्थपूर्ण नीति का परिचायक है। नन्द अपने अन्तकाल में विरोधियों से युद्ध करने का प्रयास करता है किन्तु वह उसका विवशताग्रस्त और साधनहीन प्रयास है। इसमें उसकी वीरता और साहस का सम्यक् स्फुरण नहीं है।

———

वररुचि (कात्यायन)

नन्द सदृश क्रूर, विलासी एवं विवेकशून्य राजा का मन्त्री होकर भी वररुचि ने सदैव न्याय एवं सत्य का समर्थन किया। तक्षशिला के स्नातकों की परीक्षा लेना वह अस्वीकार करता है क्योंकि वह स्वयं वहाँ पढ़ चुका है और समझता है कि वहाँ के उत्तीर्ण छात्रों की परीक्षा लेना वहाँ के शिक्षकों का अपमान करना है। वह मौर्य्य पत्नी के प्रति, नन्द द्वारा किए गए दुर्व्यवहार का तीव्र विरोध करता है और स्वयं विरोधस्वरूप पदत्याग करता है।

वररुचि अध्ययनशील, विद्याव्यसनी एवं उदार सहृदय ब्राह्मण है। वह चाणक्य के पास बन्दीगृह में राक्षस के साथ इसी प्रेरणा से जाता है कि उसे चाणक्य से वार्तिक लिखाने में सहायता मिलेगी। अपने अध्ययन के लिए मन्त्रिकार्य्य छोड़ कर वह पुनः तक्षशिला जाता है और अपना कार्य्य पूरा करता है।

उसका हृदय क्षमाशील और उदार है। नन्द ने यद्यपि उसे भी अन्धकूप में डाला, किन्तु फिर भी वह चाणक्य से यही कहता है—

"नन्द की भूल थी। वह अब भी सुधारा जा सकता है। ब्राह्मण! क्षमानिधि! भूल जाओ।" केवल वररुचि ही नन्द की हत्या पर 'अनर्थ'! कहकर अपना क्षोभ प्रकट करता है।

वररुचि पारस्परिक फूट और भेदभाव को रोकने की सतत चेष्टा करता है। राक्षस ने, विजयोत्सव न मनाने के कारण, जो द्वेष की आँधी चलाई उसका उसने विरोध किया—"जो कार्य बिना आडम्बर के हो जाय वही तो अच्छा है।" वह चाणक्य के आग्रह पर चन्द्रगुप्त और यवन बाला के परिणय में आचार्य बन कर अपनी सहृदयता का परिचय देता है।

कार्नेलिया

ग्रीक-कुमारी कार्नेलिया भावुक और सहृदय है। प्रकृति प्रेम उसके रोम रोम में है। भारत-भूमि के प्रथम दर्शन में ही यहाँ की प्राकृतिक छटा उसके सहज भावुक हृदय को भावविभोर कर देती है। 'यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहिने हुए शैल श्रेणी, हरी भरी वर्षा, शीतकाल की धूप (उसके) बालकाल्य की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाँए हैं।' वह भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य पर ही नहीं वरन् यहाँ के सरल जीवन और उच्च दार्शनिक चिन्तन पर भी अनुरक्त है। यहाँ के 'भोले कृषक और सरल कृषक-बालिकायें' उसकी सरल प्रकृति के अनुरूप हैं। वह यहाँ के दार्शनिक दाण्ड्यायन का सत्संग लाभ करती है तथा राक्षस से उशना और कर्णिक के सिद्धान्तों का अध्ययन करती है। भारत की इन्हीं नैसर्गिक विभूतियों से प्रभावित हो वह चन्द्रगुप्त से कहती है "……यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि है।"

कार्नेलिया के जीवन का प्रेम प्रसंग मनोवैज्ञानिक आधार पर है। सात्विक प्रेम का उदय और उसकी प्रतिष्ठा अनुकूल आलम्बन पाकर ही होती है। भावुक, गंभीर एवं साहसी कार्नेलिया के लिए शृङ्गार और रौद्र का संगम' चन्द्रगुप्त, अनुकूल प्रेमालम्बन है। दाण्ड्यायन के आश्रम में चन्द्रगुप्त से उसका प्रथम साक्षात्कार होता है। वहीं पर चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में भारत का भावी सम्राट होने की भविष्य वाणी कार्नेलिया के समक्ष गौरवपूर्ण जीवन की झलक प्रस्तुत करती है। अतः वह शीघ्र ही उसके मानस में प्रतिष्ठित हो जाता है। बारम्बार के मिलन से उसका प्रेम पुष्ट हो जाता है। चन्द्रगुप्त का

मनोहर रूप ही उसके प्रेम का आलंबन नहीं वरन् वह उसकी सहज उदार प्रकृति, सौजन्यपूर्ण व्यवहार और साहसपूर्ण शक्ति की निरन्तर अनुभूति पर आश्रित है। सिल्यूकस के प्रति चन्द्रगुप्त का जो शिष्टाचारपूर्ण शीलव्यंजक व्यवहार है तथा सिकन्दर के समक्ष उसने जिस निर्भीकतापूर्ण साहस एवं पराक्रम का परिचय दिया वह कार्नेलिया के मानस में चिर प्रतिष्ठित हो उसके प्रेम-वीरुध को निरन्तर विकसित करता रहा। उसका प्रेम एक आकस्मिक घटना नहीं है और न उसमें उच्छृंखल आवेग ही है। उसका आधार दृढ़ है और उसमें संयम तथा गंभीरता है। वह 'प्रेम में स्मृति का सुख अनुभव' करती है तथा उसके हृदय में एक टीस उठती है 'जिसे' वह प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। उसने अपने प्रेम का आभास ही केवल सुवासिनी को दिया — 'सखी मदिरा की प्याली में तू स्वप्न सी लहरों को मत आन्दोलित कर। स्मृति बड़ी निष्ठुर है। यदि प्रेम ही जीवन का सत्य है तो संसार ज्वाला है।" उसका पिता चन्द्रगुप्त के साम्राज्य पर आक्रमण करता है। अपने प्रिय की अमंगल कल्पना से उसका शील और हृदय क्षुब्ध हो उठता है, पर वह संयम का त्याग नहीं करती। वह इस अभियान के प्रति सहानुभूतिपूर्ण आकुलता व्यक्त कर अपने पिता को उससे विरत करने की चेष्टा करती है—

"पिताजी उसी चन्द्रगुप्त से युद्ध होगा, जिसके लिए उस साधु ने भविष्यवाणी की थी। वही तो भारत का राजा हुआ न ?"

"पिता जी, आप ही ने मृत्युमुख से उसका उद्धार किया था और उसी ने आपके प्राणों की रक्षा की थी ?"

युद्ध होना निश्चित जानकर वह अपना साहस बटोर कर परिस्थितियों का सामना करने को प्रस्तुत हो जाती है। आत्म-सम्मान के लिए चरम प्रतिकार रूप प्राणविसर्जन में भी उसे हिचक नहीं है। नारी का आत्मसम्मान उसकी सबसे बड़ी निधि है। उसकी

रक्षा के लिए वह बड़ा से बड़ा मूल्य चुका सकती है। कार्नेलिया उस मूल्य के चुकाने का जैसे ही उपक्रम करती है कि उसका प्रियतम सहसा उपस्थित हो उसे जीवन का उपहार प्रदान करता है।

'प्रसाद' की कार्नेलिया का केवल वाह्य रूप विदेशी है। आभ्यंतर स्थित भावना और प्रकृति सर्वथा भारतीय है।

वररुचि के कथनानुसार "वह यवनबाला सिर से लेकर पैर तक आर्य-संस्कृति में पगी है।" चाणक्य ने इसी को पहिचानकर उसे भारत की साम्राज्ञी बनाया।

सुवासिनी

'कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम', सुन्दरता की रानी सुवासिनी को हम सर्वप्रथम नन्द की नाट्यशाला में देखते हैं। नन्द उस पर अनुरक्त हो उसे अपनी भोग्या बनाना चाहता है, किन्तु सुवासिनी उसका प्रतिकार करती है। वह "नन्द की विलास लीला का क्षुद्र उपकरण बनकर नहीं रहना चाहती"। वह नन्द की रङ्गशाला में पितृ-वंचिता अनाथ होकर जीविका के ही लिए गई थी। सुवासिनी विलास की इच्छा से वहाँ नहीं गई।

राक्षस के प्रति उसका प्रेम स्वभाव एवं गुण साम्य पर आश्रित है। राक्षस कलाविद् एवं संगीतज्ञ है तो सुवासिनी नाट्यशाला में केवल सुन्दरता के बल पर ही नहीं, वरन् अपने सङ्गीत और कला के प्रदर्शन से सब के आकर्षण की वस्तु है। वह राक्षस को हृदय से चाहती है। उसे किसी प्रकार का प्रलोभन या भय अपने प्रेम मार्ग से विरत नहीं कर सकता। वह अपने प्रणयी को 'खोजने के लिए स्वर्ग तक जाने को प्रस्तुत है।' राक्षस के प्रति उसका प्रेम अगाध है किन्तु उसमें संयम का अभाव नहीं है। सुवासिनी ने अपना हृदय उसे दिया और परिणय सम्बन्ध भी स्वीकार किया। नन्द द्वारा पहुँचाई हुई 'बाधा एक क्षण और रुकी रहती तो' दोनों 'सामाजिक नियम के बन्धन से बंध गये होते।' इसी बीच में उसके पिता शकटार का कारागार से मुक्त होकर प्रकट हो जाना एक पारिवारिक समस्या उपस्थित कर देता है। उसके लिए 'अब पिता जी की अनुमति आवश्यक हो गई है। वह नहीं चाहती कि उसके चिर-दुखी पिता को, उसके किसी स्वेच्छापूर्ण आचरण से, मानसिक कष्ट हो। वह राक्षस से बड़े विनीत भाव से कहती है—

"मैं तुम्हारा प्रणय अस्वीकार नहीं करती। किन्तु अब इसका प्रस्ताव पिता जी से करो ..... ।"

सुवासिनी के प्रणय में चाणक्य की स्मृति भी क्षणिक व्यवधान रूप से प्रस्तुत हो जाती है। चाणक्य सुवासिनी से बाल्यकाल से ही परिचित है। दोनों में परस्पर बालसहचर्य्य सम्भूत प्रेम एवं सहानुभूति भी पर्य्याप्त है। चाणक्य की प्रेममयी दृष्टि भी उस पर पड़ जाती है। किन्तु सुवासिनी के भ्रूभंग मात्र से ही चाणक्य अपना मन फेर लेता है। वह समझ जाता है कि सुवासिनी का 'प्रणय, स्त्री और पुरुष के रूप में केवल राक्षस से अंकुरित हुआ" और उसके "शैशव का वह सब केवल हृदय की स्निग्धता थी।" अतः चाणक्य ही सुवासिनी को राक्षस के साथ परिणय की अनुमति देकर उस समस्या को हल कर देता है।

सुवासिनी में भाव स्निग्धता के साथ ही वाक् चातुरी और कार्य्यपटुता भी पर्य्याप्त है। चाणक्य ने उसके इस गुण को लक्षित कर ही उस कार्नेलिया का चन्द्रगुप्त के प्रति मनोभाव अवगत करने और राक्षस को पुनः भारत लाने के लिए ग्रीक शिविर में भेजा था। उसने अपनी वाक्चातुरी से राजकुमारी का ध्यान शीघ्र ही अपनी ओर आकर्षित कर लिया, उसकी सखी बनकर अपना मनोरथ पूर्ण किया तथा साथ ही राक्षस को युक्तिपूर्ण ढंग से पुनः यवन शिविर से निकाल कर भारतीय सीमा में ले आई।

कल्याणी

मगध की राजकुमारी कल्याणी वीरता, साहस और आत्म-सम्मान की भावनाओं से ओत प्रोत है। वह नंद के विलास पूर्ण राजमहलों में पली है किन्तु कुत्सित विलास की छाया उसके व्यक्तित्व को छू तक नहीं गई। वह नारी है किन्तु नारी-भीरुता के स्थान पर उसमें साहस एवं वीरता सम्यक् रूप से विद्यमान है। पर्व्वतेश्वर ने उससे विवाह सम्बन्ध करना अस्वीकार कर दिया है। उसका स्वाभिमान गरज उठता है। उसका पिता द्वेषवश पर्व्वतेश्वर को पंचनद युद्ध में सैनिक सहायता देना अस्वीकार करता है किन्तु कल्याणी पर्व्वतेश्वर से प्रतिशोध लेने तथा उसे नीचा दिखाने के लिये एक गुल्म सेना लेकर स्वयं रणभूमि के लिए प्रस्थान करती है। घनघोर युद्ध के पश्चात् जब पर्व्वतेश्वर अपनी विवशता स्वीकार करता है तब भी कल्याणी उसे युद्ध करने के लिए ललकारती है:—

"इन थोड़े से अर्धजीवी यवनों को विचलित करने के लिए पर्य्याप्त मगध सेना है। महाराज! आज्ञा दीजिए।"

उसकी यह साहसपूर्ण एवं वीरदर्पमयी उक्ति पर्व्वतेश्वर को भयंकर भाले के आघात से भी अधिक मर्माहत करती है और वह अपनी 'निकृष्ट पराजय' पुकार उठता है।

मगध की क्रान्ति के समय भी कल्याणी ही पर्व्वतेश्वर के विरुद्ध नगरावरोध का भार उठाती है। वह इसमें पर्व्वतेश्वर के हाथों बन्दी होकर असफल अवश्य हुई किन्तु उसका यह कार्य भी उसके असीम साहस एवं रणोत्साह का परिचायक है।

कल्याणी के जीवन का मधुरपक्ष अत्यंत निराशापूर्ण एवं दुःखद है। वह अपने बाल-सहचर चन्द्रगुप्त को ही अपने परिणय के उप-

युक्त समझती है। तक्षशिला से विद्या प्राप्त कर तथा चीते से उसकी रक्षा कर चन्द्रगुप्त ने अपनी योग्यता और वीरता की छाप उसके हृदय पर लगा दी है। वह पंचनद युद्ध में पर्व्वतेश्वर से प्रतिशोध लेने के साथ ही चन्द्रगुप्त को देखने के लिए जाती है। वह अपने इस अन्तर्भाव को चन्द्रगुप्त के सामने ही व्यक्त करती है—"केवल तुम्हें देखने के लिए ! मैं जानती थी कि तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होगे—"

कल्याणी के गौरवपूर्ण व्यक्तित्व एवं उसके कोमल हृदय को उसके निकटतम सम्बन्धियों ने नहीं पहचाना। चन्द्रगुप्त की बात न मान कर उसके पिता ने उसके अनुरोध की अवहेलना की और चन्द्रगुप्त उसके प्रेम को उसके जीवन के अन्तिम क्षण में ही पहिचान सका। कल्याणी के करुणा-कलित हृदय का परिचय हमें उसकी एक स्वगतोक्ति में मिलता है—

'मेरे जीवन सुख के दो स्वप्न थे—दुर्दिन के बाद आकाश के नक्षत्र-विलास सी चन्द्रगुप्त की छबि, और पर्व्वतेश्वर से प्रतिशोध, किन्तु राजकुमारी आज अपने ही उपवन में बंदिनी है। जीवन लज्जा की रंगभूमि बन रहा है।" कल्याणी ने जीवन में पर्व्वतेश्वर से भर पूर प्रतिशोध लिया। पशु के समान विलासी और मद्यपी पर्व्वतेश्वर उसे अपने विलास की सामग्री, बलपूर्वक बनाना चाहता था। यह उसे असह्य हो उठा और उसने उसका वध कर अपना प्रतिशोध पूरा किया।

चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम की अनन्यता होते हुए भी पितृ भक्ति और आत्म-सम्मान की भावना के कारण उसने उस प्रेम-पीड़ा को भी दबा दिया। चन्द्रगुप्त उसके पिता नंद का विरोधी था, अतः वह उसके साथ परिणय न कर आत्महत्या कर लेती है।

कल्याणी का चरित्र आदि से लेकर अन्त तक द्वन्द्व एवं दुःख से पूर्ण है। उसने नारी होते हुए भी साहस के साथ परिस्थितियों का सामना किया और आगे बढ़ने की चेष्टा की। अपने वंश की मर्य्यादा और आत्म सम्मान को सदैव ऊँचा रखा और उसी की रक्षा हेतु आत्म बलि देकर उसने अपने दुःखमय जीवन का दुःखद अन्त किया। 'प्रसाद' जी कल्याणी का चन्द्रगुप्त से परिणय प्रदर्शित न कर उसके भावुक एवं बलिदानमय चरित्र के प्रति सामाजिकों की चिरकालीन सहानुभूति सचेष्ट कर देते हैं। कलात्मक दृष्टि से यह उनकी महान सफलता है।

मालविका

'चन्द्रगुप्त' नाटक के स्त्री-पात्रों में मालविका के चरित्र का विकास और अवसान उसकी प्रथम स्वगतोक्ति के अन्तर्गत वर्णित उन फूलों के समान है जो 'हँसते हुए आते हैं, फिर मकरंद गिरा कर मुरझा जाते हैं'। चन्द्रगुप्त के शब्दों में वह 'स्वर्गीय कुसुम' है अतः वह अलौकिक स्नेह, सहानुभूति एवं सेवा रूपी परिमल और पराग चतुर्दिक विकीर्ण करती हुई प्रेम और परमार्थ की वेदी पर आत्मबलि चढ़ा कर अनंत में तिरोहित हो जाती है।

मालविका शस्य-श्यामल-सिंधु देश की निवासिनी है। वहाँ के सुसंस्कृत एवं प्रकृत वातावरण में वह रही है। उसका कोई कुटुम्बी, उसका पृष्ठपोषक नहीं है किन्तु उसकी सहानुभूति प्रत्येक सात्विक संवेदना-पूर्ण व्यक्ति के साथ है। 'तक्षशिला में राजकुमारी अलका से कुछ ऐसा स्नेह हुआ कि वहीं रहने लगी'। फिर मालविका घायल सिंहरण की सेवा के लिए नियुक्त हुई और उनकी सहृदयता से भी वह अत्यन्त प्रभावित हुई। वह जिनके भी सम्पर्क में आती है उनके साथ उसकी प्रगाढ़ आत्मीयता हो जाती है जो उसके सरल एवं सहानुभूति-पूर्ण हृदय की परिचायक है। मालविका को किसी से द्वेष तथा किसी से भय नहीं है। वह विपन्न की सेवा ही अपना मुख्य धर्म समझती है। मालव के युद्ध में घायलों की सेवा का कार्य अपने ही हाथ में लेती है। सच्चा सेवा-व्रती किसी भी प्रकार की हिंसा से अपने को बहुत दूर रखेगा। वह शस्त्र-बल से नहीं आत्म-बल से सेवा-व्रत-धर्म पालन करता है। सच्चे अहिंसावादी एवं सेवा-व्रती का यही यथार्थ स्वरूप है। मालविका उसका अच्छा उदाहरण है। वह प्राणों के भय से छुरी या शस्त्र रखने में नहीं डरती। प्राण

तो उसके लिए 'धरोहर है, जिसका होगा वही ले लेगा, भय से इसकी रक्षा करने की आवश्यकता,' वह नहीं समझती। सेवा-व्रती होने के कारण वह अलका के समक्ष रक्त की प्यासी छुरी से घृणा करती है एवं डरती है।

मालविका की सहानुभूति तो सबके साथ है किन्तु उसकी प्रणय भावना चन्द्रगुप्त के प्रति ही जाग्रत होती है। वह चन्द्रगुप्त की वीरताव्यंजक मनोहर मूर्ति को प्रथम दर्शन के पश्चात् ही अपने स्नेह से स्निग्ध हृदय में अधिष्ठित करती है। चन्द्रगुप्त भी उसकी सरलता पर मुग्ध होता है। सात्विक प्रेम अपने आलंबन के उत्कर्ष का अभिलाषी होता है और वही आश्रय को भी प्रेमालंबन के सहकार के लिए प्रेरित करता है। मालविका में चन्द्रगुप्त के प्रति सात्विक प्रेम है। वह चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष के लिए असत्य बोलने के लिए भी तैयार हो जाती है। चाणक्य के आदेश से वह नंद की रंगशाला में जाती है। वहाँ वह छल पूर्ण अभिनय द्वारा नंद के हृदय में राक्षस के प्रति द्वेष और दुर्भाव जाग्रत करती है। मालविका का चन्द्रगुप्त के प्रति प्रेम वासना रहित है। वह चन्द्रगुप्त को 'साधारण-जन-सुलभ दुर्बलता' से बचाती है। उसका प्रेम नैतिक दृष्टि से आदर्श रूप में अङ्कित है।

प्रेम का चरम उत्कर्ष आलंबन की निरंतर कामना करते हुए उसके लिए आत्म-विसर्जन कर देने में है। मालविका अपने प्रेम में उसी स्थिति को प्राप्त करती है। आर्य्य चाणक्य की आज्ञा है—"आज घातक इस शयनगृह में आवेंगे, इसीलिए चन्द्रगुप्त यहाँ न सोने पावे और वे षड़यन्त्रकारी पकड़े जाँय।" अपनी मृत्यु को निश्चित जानकर भी वह सहर्ष प्राणान्तकारी परिस्थितियों में अपने को रख देती है। इस प्रकार प्रेम की वेदी पर आत्म बलिदान देकर मालविका परम गौरवपूर्ण पद प्राप्त करती है।

अलका

स्वदेशानुराग, साहस, वीरता एवं चातुर्य्य से विभूषित अलका को 'चन्द्रगुप्त' की प्रभावशाली व्यक्तित्वयुक्त स्त्री-पात्र जोन-आफ-आर्क (Jone of Arc) कह सकते हैं। अलका सिंहरण, चन्द्रगुप्त और चाणक्य से प्रभावित हो स्वदेश सेवा को अपना लक्ष्य निर्धारित करती है। उसके पिता और भाई विदेशियों से अभिसंधि कर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु वह यवन अभियान द्वारा प्रतिफलित भारत की दुर्दुशा का अनुमान कर उसे रोकने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ होती है। वह अपने परिवार के देशद्रोह की सरिता को रोकने के लिए चट्टान रूप दृढ़ हो जाती है। उसका भाई यवनों की सहायतार्थ उद्भाण्ड में सिंधु पर सेतु बनवा रहा है। अलका उसका मानचित्र बनवाकर देशभक्त सिंहरण को देती है। इस मानचित्र के ही प्रसंग में उसकी निर्भीकता, साहस एवं चातुरी का भी पर्य्याप्त परिचय मिलता है। उसने यवन को अपने साहस और निर्भीकता से ही मालविका से मानचित्र हस्तगत करने से रोका। वह सिंहरण के सहयोग से अपने उद्देश में पूर्ण सफल होती है और वह मानचित्र सिंहरण को सौंप कर अपने प्रथम उत्तरदायित्व को सफलता पूर्वक निभाती है।

वह स्वदेश हित अपने परिजनों से विद्रोह कर प्राणपण से देश सेवा और देशरक्षा के कार्य में लगती है। वह दाण्डयायन से चन्द्रगुप्त और चाणक्य के विषय में जो शंका व्यक्त करती है वह उसकी उत्कट देशभक्ति का परिचायक है। अलका विविध परिस्थितियों में अपने को रखकर देश सेवा के लिए उद्योग करती है। वह पर्व्वतेश्वर की सेना में नट नटी के रूप में जाकर सफलता पूर्वक अपना कार्य्य करती है।

अलका मालव दुर्ग की रक्षा में एक सैनिक की भाँति तत्पर है। अपने पराक्रम से ही अनेक यवन सैनिकों को धराशायी कर वह सिकन्दर पर भी प्रहार करती है। अलका सिल्यूकस के आक्रमण के समय आर्य्य-पताका लिए स्वदेश-प्रेम के गीत गाते हुए एवं अपनी ओजस्विनी वक्तृताओं द्वारा जनता में उत्साह फैलाते हुए सैन्य संगठन का कार्य्य करती है। आम्भीक भी उसके इस स्वदेशानुरागपूर्ण व्यक्तित्व से प्रभावित हो अपने पूर्व कार्य्यों के लिए लज्जित होता है। स्वयं चाणक्य अलका के स्वदेश हित त्याग और कष्ट के लिए भूरि भूरि सराहना करता है।

"मेरी लक्ष्मी—अलका ने आर्य्य गौरव के लिए क्या क्या कष्ट नहीं उठाए।"

'प्रसाद' ने अलका के चरित्र में उसके प्रेम का आलम्बन उसी के समान स्वदेशानुरागी साहसी एवं वीर व्यक्ति रखा। सिंहरण और आम्भीक की बातचीत ही में अलका प्रथम की निर्भीक, स्वतंत्र एवं साहसी प्रकृति से परिचित होकर उसके प्रति आकर्षित होती है। अनेक बार के सहवास और सहकार से परस्पर घनिष्टता बढ़ जाती है। पर्व्वतेश्वर के कारागार में तो पारस्परिक प्रेम का स्पष्ट परिचय दोनों को मिल जाता है। चाणक्य ने दोनों को वैवाहिक बन्धन में समारोह पूर्वक बाँध कर उसके प्रेम की सार्थकता सिद्ध की।

अलका में वाक्चातुरी तथा कार्य्य कुशलता यथेष्ट परिमाण में है। वह वन-प्रदेश में सिल्यूकस को चकमा देकर उसके चंगुल से निकल जाती है। पर्व्वतेश्वर को अपने वाग्जाल में फाँस कर वह थोड़े समय के लिए पंचनद की अधीश्वरी बनती है तथा इस प्रकार वह सिंहरण को कारागार से मुक्ति दिला कर पर्व्वतेश्वर की सिकन्दर के लिए सैनिक सहायता भी बहुत कुछ रुकवा लेती है। समष्टि रूप से 'चन्द्रगुप्त' में अलका के चरित्र का सफल निर्वाह हुआ है।

अजातशत्रु

नाटकीय क्षेत्र में अजातशत्रु का पदार्पण क्रूरता, कठोरता एवं हिंसक मनोवृत्तियों के साथ होता है। निर्बल एवं निरीह मृगों की, उसके चित्रक द्वारा, हिंसा में उसे विनोदपूर्ण आनन्द की अनुभूति होती है और उसके सम्भावित अभाव में वह आकुल प्रतीत होता है। 'क्यों रे लुब्धक! आज तू मृगशावक नहीं लाया? मेरा चित्रक अब किससे खेलेगा?' क्रूरता और कठोरता का परस्पर समवाय सम्बन्ध है। अजातशत्रु के चरित्र में ही उसका उदाहरण है। लुब्धक द्वारा मृगशावक न लाने का कारण प्रस्तुत किए जाने पर उसकी क्रूरता, कठोरता का अनुगमन करती है—'हाँ, तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ। समुद्र! ला तो कोड़ा।" कुमारावस्था की इस बीजरूप क्रूरता एवं कठोरता का विकास, अजातशत्रु के भावी चरित्र में पूर्णतया प्रदर्शित है। सम्राट् होने पर, काशी की प्रजा की विरोध वार्ता, उसकी सहज कठोर एवं क्रूर प्रकृति को प्रदीप्त करने के लिए, मानो ईंधन का काम करती है। वह तत्काल उबल पड़ता है—"क्या यह सच है समुद्र! मैं यह क्या सुन रहा हूँ! प्रजा भी ऐसा कहने का साहस कर सकती है? चींटी भी पंख लगाकर बाज के साथ उड़ना चाहती है। 'राज कर मैं न दूंगा—यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गई? काशी का दण्डनायक कौन मूर्ख है? तुमने उसी समय उसे बन्दी क्यों नहीं किया?" अजातशत्रु की उद्दण्ड क्रूर प्रकृति क्रमशः विकासशील है। पराजित एवं घायल प्रसेनजित् को अरक्षित अवस्था में पकड़ कर मार डालने की चेष्टा में वह अपनी पराकाष्ठा को पहुँची हुई दिखाई पड़ती है। उसकी इस प्रचण्ड क्रूरता, कठोरता एवं हिंसाप्रियता का अनुभव उसके उस कथन से होता

है जो प्रसेनजित् के न पाने पर वह मल्लिका से कहता है—"कहाँ गया ? मेरे क्रोध का कन्दुक, मेरी क्रूरता का खिलौना कहाँ गया ? रमणी ! शीघ्र बता—वह घमण्डी कोशल सम्राट् कहाँ गया ?"

क्रूर एवं कठोर होने के साथ ही अजातशत्रु दुर्विनीत भी है। वह अपनी ज्येष्ठा भगिनी, विमाता एवं पिता इन सबकी यथावसर अवज्ञा, उपेक्षा और अनादर करता रहता है। गुरुजनों के उपदेश-पूर्ण एवं कल्याणयुक्त वचनों में, उसे आत्मविरोध अनुभूत होता है। आरम्भ में ही, जब उसकी बहिन पद्मा उसे कोमल व्यवहार और शीतल आचरण का उपदेश करती है, तो वह उसे अनुचरों के लिये आज्ञाभङ्ग का प्रोत्साहन समझता है और बड़ी निर्ममतापूर्वक उसे फटकारता है—'यह तुम्हारी बढ़ाबढ़ी मैं सहन नहीं कर सकता।' वह अपने पिता से राज्यशासन प्राप्त करने में भी विनय का प्रदर्शन नहीं करता है। राज्यभार ग्रहण कर लेने पर तो उसमें गुरुजनों के प्रति विनयाचरण के स्थान पर तिरस्कार एवं कपटाचरण के ही दर्शन होते हैं। विम्बसार के समय में जो याचक धनधान्यादि से पुरस्कृत एवं सेवित होते थे उन्हें निराश कर लौटा दिया जाता है। इतना ही नहीं वरन् वह अपनी विमाता वासवी और पिता पर नियन्त्रण बैठाने का प्रस्ताव तक परिषद् से स्वीकार करवाता है और इसके अनुरूप व्यवहार करता है। अजातशत्रु के इस प्रकार क्रूर एवं दुर्विनीत चरित्र विकास में उसकी माता की शिक्षा का बड़ा प्रभाव है। विवेक के जाग्रत होने पर वह स्वयं इस बात का अनुभव करता है। वह अपने पिता से स्पष्ट रूप से कहता है—"नहीं पिता, मुझे भ्रम होगया था। मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था केवल जङ्गलीपन की स्वतन्त्रता का अभिमान—अपने को विश्व भर से स्वतन्त्र जीव समझने का झूठा आत्म-सम्मान।" जीवन की अपरिपक्व अवस्था—किशोरवय में माता की शिक्षा एवं पार्श्ववर्तियों का प्रभाव जीवनदशा निर्दिष्ट करने में बहुत

सहायक होता है। दुर्भाग्य से अजातशत्रु को दोनों ही जीवन के आदर्शविरोधी मार्ग में प्रेरित करने वाले मिले हैं। छलना, देवदत्त और समुद्रदत्त आदि के द्वारा ही उसमें क्रूरता, कठोरता और अविनय आदि का वपन और विकास हुआ है।

अजातशत्रु स्वतन्त्र विचार एवं कर्तृत्व से विहीन है। उसकी माता छलना और देवदत्त अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का उसे सहज साधन बनाते हैं। छलना अजातशत्रु को भारतखण्ड का सम्राट् तो देखना चाहती है किन्तु साथ ही वह वीरप्रसूती होकर गर्व से उससे चरण बन्दन भी कराना चाहती है। देवदत्त गौतम के बढ़ते हुए प्रभाव को ईर्ष्यावश नष्ट करना चाहता है। इन दोनों ने ही अपनी अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए अजात शत्रु को अपने कार्य्यसाधन का अस्त्र बनाया है। नाटक के नायक होने के नाते अजातशत्रु में स्वावलम्बन का अभाव एवं परमुखा-न्पेक्षिता का आरोप महान् दोष है।

अजातशत्रु के चरित्र में संस्कार एवं सहवासजन्य कतिपय दुर्बलताओं के होते हुए भी कुछ स्वतन्त्र विशेषताएँ हैं। वह साहसी, पराक्रमी, और कार्य्यकुशल है तथा गुणों को यथार्थ रूप में परखने वाला है। वह अपने प्रचण्ड पराक्रम से प्रसेनजित् को पराजित करता है। आत्मसम्मान की भावना से वह प्रसेनजित् के कारागृह में बन्दी दशा में भी दीर्घकारायण को उसकी मुखरता का मुँहतोड़ उत्तर देता है—'मैं तुमको उत्तर नहीं देना चाहता। तुम्हारे महाराज से मेरी प्रतिद्वन्द्विता है—उनके सेवकों से नहीं।" इसी प्रसङ्ग में दीर्घकारायण को मर्य्यादा की सीमोल्लंघन करते देख वह उसे द्वन्द्वयुद्ध के लिए ललकारता है—"कारायण! यदि तुम्हें अपने बाहुबल पर भरोसा हो तो तुमको द्वन्द्वयुद्ध के लिए आह्वान करता हूँ।" अजात के इस कथन में उसका साहस भी प्रकट होता है।

अजात के हृदय में क्रूरता और कठोरता यद्यपि विशेष परिमाण में है किन्तु फिर भी सात्विक अँश का उसमें सर्वथा अभाव नहीं है। हृदय की इस सात्विकता के प्रभाव से ही वह अपने दर्प की चरमावस्था में मल्लिका की महिमामयी मूर्ति के आगे नतमस्तक हो जाता है और उसकी पीयूषवर्षिणी वाणी द्वारा अपने प्रज्वलित हृदय को शान्त करता है। वह मल्लिका के प्रभाव से अभिभूत होकर कहता है—"देवी आप कौन हैं? हृदय नम्र होकर आप ही आप प्रणाम करने को झुक रहा है। ऐसी पिघला देने वाली वाणी तो मैंने कभी नहीं सुनी।"

मल्लिका के व्यक्तित्व का प्रभाव अजात के हृदय पर गम्भीरता के साथ पड़ता है। किन्तु वह स्थायी नहीं रहता। युद्ध व्यापार से उसे विरक्ति होती है पर वह तितिक्षा का रूप नहीं ग्रहण करती। अजातशत्रु अपनी माता द्वारा युद्ध के लिए पुनः उत्तेजित किए जाने पर कहता है—"माँ! क्षमा हो। युद्ध में बड़ी भयानकता होती है; कितनी स्त्रियाँ अनाथ हो जाती हैं। सैनिक जीवन का महत्वमय चित्र न जाने किस षड़यन्त्र की मस्तिष्क की भयानक कल्पना है। .....युद्धस्थल का दृश्य बड़ा भीषण होता है।"

अजात युद्ध विरोधी अपनी इस धारणा पर स्थिर नहीं रह पाता। देवदत्त विरुद्धक, और छलना की कूटचातुरी द्वारा वह विवशता पूर्वक युद्ध कार्य्य में पुनः संलग्न होता है। वह इस त्रिगुट की मन्त्रणा को 'जैसी माता की आज्ञा' कहकर स्वीकार करता है। उसके इस कथन में मातृभक्ति ही अधिक व्यंजित होती है, युद्धेच्छा कम। प्रसेनजित् के सम्मुख द्वितीय युद्ध में पराजय का कारण प्रधान रूप से उसकी विरक्तिपूर्ण अन्यमनस्कता है।

अजात के जीवन का मधुरपक्ष बड़ा भावुक एवं हृदयग्राही है। जीवन के घोर संघर्ष तथा संकटपूर्ण अवसर में उसे अपने प्रेमालम्बन के दर्शन होते हैं। कोशलकुमारी वाजिरा के स्वरूप की कमनीयता

एवं सौन्दर्य की मधुरिमा हठात् उसके आन्दोलनपूर्ण हृदय को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। वह बरबस उससे पूछ ही बैठता है—"इस श्यामा रजनी में चन्द्रमा की सुकुमार किरण सी तुम कौन हो? सुन्दरी, कई दिन मैंने देखा, मुझे भ्रम हुआ कि यह स्वप्न है। किन्तु नहीं, अब मुझे विश्वास हुआ है कि भगवान ने करुणा की मूर्ति मेरे लिए भेजी है और इस बन्दीगृह में भी कोई उसकी अप्रकट इच्छा कौशल कर रही है?"

प्रेममयी वाजिरा के स्निग्ध प्रभाव से उसके हृदय की अवशिष्ट क्रूरता और कठोरता सदा के लिए विलीन हो जाती है। प्रेम के व्यापक क्षेत्र में उनका तिरोभाव हो जाता है। अजात इस बात को स्वतः स्वीकार करता है—"सुनता था कि प्रेम द्रोह को पराजित करता है। आज विश्वास भी होगया। तुम्हारे उदार प्रेम ने मेरे विद्रोही हृदय को विजित कर लिया……"। अजातशत्रु प्रेम की पावन वेदी पर अपना समस्त अहंभाव न्यौछावर करता है। वह सच्चे हृदय से ही वाजिरा को विश्वास कराता है—'मैं अपने समेत उसे तुम्हें लौटा देता हूँ प्रिये! हम तुम अभिन्न हैं। यह जङ्गली हिरन इस स्वर्गीय सङ्गीत पर चौकड़ी भरना भूल गया है।" अजात का प्रेम वासनायुक्त नहीं है। चारित्रिक पवित्रता अजात के चरित्र का भूषण है। उसने जीवन में एकमात्र वाजिरा के गुण एवं स्वरूप पर मुग्ध हो उसके प्रेम का प्रतिदान किया है। इस पारस्परिक प्रेमभाव में अनन्यता है। उसका प्रभाव सात्विक एवं उभयपक्ष के लिये मङ्गलमय है।

प्रसेनजित् के द्वारा द्वितीय युद्ध में पराजयरूप गहरी ठोकर खाने से तथा मल्लिका और वाजिरा के करुणामय एवं प्रेमपूर्ण प्रभाव से अजात के समस्त सहवासजन्य दोषों का परिहार हो जाता है। वह कारागृह से मुक्त होते ही अपनी विमाता वासवी की गोद में ऐसी शीतलता एवं शान्ति का अनुभव करता है जैसी उसे पहिले

कभी नहीं अनुभूत हुई थी। वह स्वयं कहता है—"कौन ? विमाता नहीं, तुम मेरी माँ हो। माँ! इतनी ठण्ढी गोद तो मेरी माँ की भी नहीं है। आज मैंने जननी की शीतलता का अनुभव किया।"

ग्लानि की अनुभूति आत्मसुधार का प्रथम सोपान है। अजात अपनी भूलों को मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर अपनी विमाता वासवी, बहिन पद्मा और पिता से क्षमा माँगता है और पुनः पूर्ण मनुष्यत्व को प्राप्त कर सबका स्नेहभाजन बनता है। इस प्रकार नाटक के अन्त में हम अजात को राज्य, पत्नी एवं पुत्र लाभ तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण मनुष्यत्व लाभ करते हुए पाते है। नाटक का आदर्श करुणा, अहिंसा, विश्वमैत्री आदि के द्वारा कल्पित देवत्व की मनुष्यत्व में प्रतिष्ठा करना है। अजात के चरित्र में नाटक के अवसान में पूर्ण मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार अजात ही नाटक के भौतिक फल—राज्य, पुत्र दारादि—की प्राप्ति करता है तथा वही उसके आध्यात्मिक फल का भी सम्पूर्णतः भागी होता है। उसकी कुटिलता एवं क्रूरता दूर हो जाती है तथा वह प्रेम एवं विनय युक्त आचरणों द्वारा सबमें सौमनस्य सम्पादित करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण फल लाभ की दृष्टि से वही नाटक का नायक है।

बिम्बसार

बिम्बसार मगध का वृद्ध सम्राट् है। वह अपनी छोटी रानी छलना और पुत्र अजात के विद्रोह की आशङ्का से जीवनकाल में ही राज्यभार अपने पुत्र को सौंप कर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करता है। राज्यत्याग उसने आत्म प्रेरणा से नहीं किया है। एक ओर तो उसके सामने उसकी रानी छलना की धमकी है—"आपको कुणीक के युवराज्यभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी।" दूसरी ओर गौतम का उपदेश उसके सामने है—"तुम आज ही अजातशत्रु को युवराज बनादो और इस भीषण भोग से कुछ विश्राम लो" बिम्बसार इस प्रकार परिस्थिति की प्रेरणा से बाह्य-रूपेण राज्य त्याग तो अवश्य करता है किन्तु अधिकारों के प्रति उसे सर्वथा वैराग्य नहीं हो पाता है। वह समय समय पर दार्शनिक चिन्तन द्वारा इस राज्यमोह पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है। उसके हृदय में मोह और विवेकपूर्ण विरक्ति के बीच जब द्वन्द्व छिड़ता है तो उसमें अपर की ही विजय होती है। इसमें उसे बड़ी रानी वासवी की सहायता मिलती है। बिम्बसार मानों अपना मन समझाने के लिए ही एक स्थल पर कहता है—"पुत्र को समस्त अधिकार देकर वीतराग हो जाने से असन्तोष नहीं रह जाता; क्योंकि मनुष्य अपनी ही आत्मा का भोग उसे भी समझता है।" वासवी इस धारणा को दृढ़ करने के लिए तत्काल उसकी प्रोत्साहनयुक्त पुष्टि करती है—"मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि आपको अधिकार से वञ्चित होने का दुःख नहीं।"

बिम्बसार वानप्रस्थ ग्रहण करके भी सुख शान्ति से कालयापन नहीं कर पाता है। अपने पुत्र अजात के क्रूर व्यवहारों से

उसे क्षोभ होता है। वही आगे चलकर छलना के दम्भपूर्ण आचरणों से क्षणिक रोष का भी रूप ग्रहण कर लेता है। याचकों के निराश लौटने से बिम्बसार को वेदना की अनुभूति होती है। वानप्रस्थ आश्रम में भी उसकी स्वतन्त्रता पर अजात द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिबन्ध उसे क्षुब्ध कर देता है। फिर भी वह गम्भीर है और अपने विचारों पर दृढ़ रहता है। छलना जब मर्य्यादा की सीमा का उल्लंघन कर व्यङ्ग मिश्रित कटूक्तियों द्वारा बिम्बसार के समक्ष ही वासवी का मर्मच्छेद करने को उद्यत हो जाती है, तब वह अपने को संयमित नहीं रख पाता। वह आत्मगौरव से सचेष्ट हो छलना की भर्त्सना करता है—"छलना! मैंने राजदण्ड छोड़ दिया है; किन्तु मनुष्यता ने अभी मुझे नहीं परित्याग किया है। सहन की भी सीमा होती है। अधम नारी!—चली जा। तुझे लज्जा नहीं, बर्बर लिच्छिवी रक्त!" बिम्बसार का यह रोष मर्य्यादा सम्मत और सामयिक है।

राज्य-सत्ता के हस्तान्तरित होने का क्षोभ बिम्बसार के मानसिक जगत तक ही रहता है। व्यवहार क्षेत्र में वह अपना उससे विरोध व्यक्त नहीं करता। वासवी द्वारा आँचल में प्राप्त काशी को हस्तगत करने में न तो बिम्बसार की प्रेरणा ही है और न वह उसकी चेष्टा ही करता है। वह तो इस ओर अपनी विरक्ति और अन्य-मनस्कता ही प्रदर्शित करता है। काशी की आय को हाथ में लेने के लिए वासवी जब प्रस्ताव करती है तो बिम्बसार यही कहता है—"मुझे फिर उन्हीं झगड़ों में पड़ना होगा देवी, जिन्हें अभी छोड़ आया।" बिम्बसार के इस कथन में उसकी सच्ची निस्पृहता एवं अधिकार सुख से उदासीनता प्रकट होती है। बिम्बसार यदि चाहता तो अपने साधनों और पूर्व सम्बन्धों के बल से पुनः सत्ता प्राप्त कर सकता था। किन्तु उसने बाहरी सहायता की सदा उपेक्षा की और राष्ट्रीय झगड़े को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। जीवक, कौशाम्बी

और कोशल, मगध का समाचार पहुँचाने तथा सम्भवतः उनकी सहायता प्राप्त करने जाना चाहता है। बिम्बसार इसका समर्थन नहीं करता है। वह जीवक से सच्चे हृदय से कहता है—'नहीं। जीवक! मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं, अब वह राष्ट्रीय झगड़ा मुझे नहीं रुचता।'

बिम्बसार को वैभवपूर्ण बाहरी आडम्बरों और उपाधियों से सच्ची विरक्ति है। वह 'सम्राट् न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल' होने की कामना करता है जिससे संसार की दृष्टि उस पर न पड़ सके। उसे अपने लिए सम्राट् शब्द का सम्बोधन भी अरुचिकर प्रतीत होता है। जीवक जब उसे सम्राट् कह कर सम्बोधित करता है, तब वह उसे डाँटता है— चुप! यदि मेरा नाम न जानते हो तो मनुष्य कहकर पुकारो। वह भयानक सम्बोधन मुझे न चाहिए।' महत्व के प्रति इस अनन्य विराग के मूल में बिम्बसार की गहरी जीवन अनुभूति है। गौतम का उपदेश तो एक ही बार उसे मिलता है। उसने राज्य-पद से पृथक होकर एक दर्शक की भाँति राज्य और वैभव के लिए चारों ओर द्वेष, कलह, युद्ध, हत्या, उत्पात आदि भीषण दृश्य देखे। उसका मानव हृदय सजग हुआ। वैभव और अधिकार—सुख समस्त उपद्रवों के मूल में उसे दिखाई पड़े। अतः उसकी विरक्ति क्रमशः गम्भीर और दृढ़ होकर पुष्ट होगई।

वस्तुतः बिम्बसार ने जिस वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण किया—चाहे वह अनिच्छा और विवशता से ही क्यों न हो—उसने उसका व्यवहारों द्वारा यथाविधि पूर्णतया पालन और निर्वाह किया। इस दृष्टि से उसका चरित्र आदर्श एवं सराहनीय है।

नाटककार ने उसके जीवन का अन्त परिस्थितियों के आकस्मिक परिवर्तन और सुखानुभूति के अतिरेक से दिखाया है। यह पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। राज्य त्याग के पश्चात् बिम्बसार अपनी

रानी छलना और पुत्र अजात के क्रूर एवं दुर्विनीत आचरणों से निरन्तर सन्तप्त हृदय रहता है। पारस्परिक विद्रोह और कलह उसे निरन्तर चिन्तनशील बनाकर उसके हृदय की शक्ति को दुर्बल कर देते हैं। घटनाओं के घात-प्रतिघात से जब छलना और अजात की प्रकृति में आमूल परिवर्तन होता है, तथा जब वे पुनः विनीत भाव से अपने अपराधों की क्षमा मांगते हुए उसके सामने आते हैं और साथ ही पद्मा जब अजात के विवाह और पुत्र-जन्म का सुखद समाचार उसे देती है तो उसका क्षीण हृदय बोझिल होकर सहसा बैठ जाता है। बिम्बसार अपने अन्तिम कथन में इसी बात को कहता भी है—'इतना सुख एक साथ मैं सहन न कर सकूँगा! तुम सब बिलम्ब करके आए।'

प्रसेनजित्

कोशलनरेश प्रसेनजित् नाटक के प्रथम अङ्क में, अदूरदर्शी क्रोधी, एवं ईर्षालु प्रकृति का दिखाई पड़ता है। वह अजातशत्रु के 'क्षुद्र विप्लव से' उत्तेजित होकर अपने पुत्र विरुद्धक पर अकारण क्रोध प्रदर्शित करने लगता है और अपनी अदूरदर्शिता से उसे राष्ट्र का शत्रु बना लेता है। अमात्य ने यथार्थ रूप से उसके इस कार्य्य की अलोचना उसके सामने की—"किसी दूसरे के पुत्र का कलङ्कित काय्यं सुनकर श्रीमान् उत्तेजित हो, अपने पुत्र को दण्ड दें, यह तो श्रीमान् की प्रत्यक्ष निर्बलता है।"

प्रसेनजित् के चरित्र का जघन्यतम अपराध अपने प्रधान सेनापति बन्धुल से ईर्षा प्रेरित विश्वासघात है। बन्धुल स्वामिभक्त एवं रणकुशल पराक्रमी सेनानायक है। उसके पराक्रम से सर्वत्र विद्रोह का दमन हो जाता है। प्रसेनजित् वाह्यरूप से तो बन्धुल की सराहना करता है किन्तु सैनिक विजयों के साथ ही बन्धुल के बढ़ते हुये प्रभाव को देख कर वह सशंकित हो उठता है। वह बन्धुल की हत्या के लिए शैलेन्द्र नामधारी डाकू के पास गुप्त आज्ञा-पत्र भेजता है। बन्धुल के प्रति उसका विद्वेष और कपटाचरण उसकी अदूरदर्शिता तथा निम्नतम मनोवृत्तियों का परिचायक है। वह अपनी इन्हीं क्षुद्रताओं और अदूरदर्शिता के कारण अजात द्वारा युद्ध में पराजित होता है। जो राजा अपने सेनापति के साथ विश्वासघात करता है उसकी सेना का उसे सच्चे हृदय से सहयोग न देना स्वाभाविक ही है।

पापाचरण मनुष्य की मानसिक शान्ति का शोषण करता है। पाप का भय हृदय का मंथन करता हुआ स्वतः उबल उबल कर

बाहर आने लगता है। लोकभाषा में इसे ही कहते हैं कि 'पाप सर पर चढ़कर बोलता है।' प्रसेनजित् बन्धुल के प्रति किए कपटाचरण से अपनी मानसिक शान्ति खो देता है। पाप की प्रबल अनुभूति स्वतः ही व्यक्त होने लगती है। प्रसेन स्वयं मल्लिका से जाकर कहता है—"नहीं—मैंने अपराध किया है। सेनापति बन्धुल के प्रति मेरा हृदय शुद्ध नहीं था—इसलिए उनकी हत्या का पाप मुझे भी लगता है।" युद्ध में पराजय होने पर, पापाचरण की अनुभूति अधिक तीव्र हो जाती है। अपने कपटाचरण के प्रतिकार स्वरूप मल्लिका का निश्छल एवं क्षमापूर्ण व्यवहार तो प्रसेनजित् को लज्जा और आत्मग्लानि के अगाध कुण्ड में डाल देता है। वह अपने कुकर्म का प्रायश्चित्त करने मल्लिका की शरण में बड़े अधीर भाव से जाता है। प्रसेनजित मल्लिका के समक्ष मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है—"देवि मैं स्वीकार करता हूँ कि महात्मा बन्धुल के साथ मैंने घोर अन्याय किया है। और आपने क्षमा करके मुझे कठोर दण्ड दिया है, हृदय में इसकी बड़ी ज्वाला है। देवि! एक अभिशाप भी दे दो, जिससे नरक की ज्वाला शान्त हो जाय और पापी प्राण निकलने में सुख पावे।" पापपूर्ण हृदय सदैव शङ्काकुल रहता है। बारम्बार क्षमा माँगने पर भी हृदय को सन्तोष नहीं होता। जीवन में अन्य प्रसङ्गों में भी उसका स्वल्प संकेत पापी हृदय को कँपा देता है। प्रसेनजित् के हृदय की यही दशा है। कोशल की राजसभा में मल्लिका के मुँह से यह निकलते ही—"मैं आज अपना सब बदला चुकाना चाहती हूँ, मेरा भी कुछ अभियोग है"—प्रसेनजित् का हृदय काँप जाता है। वह अधीर भाव से कहता है—'वह बड़ा भयानक है! देवि, उसे तो आप क्षमा कर चुकी हैं; अब।' प्रसेनजित् के उक्त कथन में भी उसकी मानसिक दुर्बलता व्यक्त होती है। वह अपने पापों को एकान्त में मल्लिका के समक्ष

स्वीकार कर उससे क्षमा तो माँग लेता है, किन्तु राजसभा के मध्य सार्वजनिक रूप से, उसकी कहानी सुनने से भागना चाहता है।

प्रसेनजित् में सत्ता का घमण्ड एवं अभिजात कुल का दम्भपूर्ण दर्प है। इसी की प्रेरणा से वह अपनी परिणीता भार्य्या का परित्याग करता है तथा औरस पुत्र को अधिकारच्युत करता है। परन्तु आत्म अपराध के निविड़तम अन्धकार में उसका अहंभाव और दर्प भी विलीन हो जाते हैं। वह अपना स्वत्व खोकर मल्लिका और गौतम के आदेशानुसार परित्यक्ता पत्नी और पुत्र को पुनः स्वीकार करने को बाध्य होता है।

प्रसेनजित् अपनी सहोदरा वासवी के प्रति सच्चे हृदय से अनुराग एवं सहानुभूति रखता है। वह अजात की अनधिकार पूर्ण चेष्टाओं का समाचार सुनकर आत्मप्रेरणा से अपनी बहिन और बहनोई के निर्वाह के लिए काशी का राजस्व उन्हें प्रदान करने की आज्ञा देता है। वह वासवी क अनुरोध से अजात को तत्काल कारागृह से मुक्त करता है और अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह अजात से कर देता है।

विरुद्धक

विरुद्धक कोशल का राजकुमार है। उसका पिता प्रसेनजित् उग्र एवं क्रोधी स्वभाव का है। विरुद्धक की माता शक्तिमती दासी पुत्री है। अतः वह युवराज पद से वञ्चित कर दिया जाता है। विरुद्धक निर्भीक, साहसी, कुटिल एवं कार्य्यकुशल है। वह अपने पिता के दुर्व्यवहार से पीड़ित होकर विद्रोही बन जाता है।

विरुद्धक के राष्ट्रद्रोह के मूल में उसकी माता की प्रेरणा भी है। विरुद्धक अपने पिता की प्रतारणाओं से उत्तेजित हो विद्रोह करने का विचार करता है। किन्तु साथ ही वञ्चित प्रणय की पीड़ा उसे उत्साहहीन कर देती है। वह अपनी स्वगतोक्ति में इसी बात को व्यक्त करता है—"घोर अपमान! अनादर की पराकाष्ठा और तिरस्कार का भैरवनाद!! यह असहनीय है। धिक्कारपूर्ण कोशलदेश की सीमा कभी की मेरी आँखों से दूर हो जाती, किन्तु, मेरे जीवन का विकाससूत्र एक बड़े कोमल कुसुम के साथ बँध गया है। ....." शक्तिमती विरुद्धक को इसी मानसिक दुर्बलता के गर्त से निकाल कर 'महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्नि-कुण्ड में कूदने को प्रस्तुत' करती है। उसकी जीवन दिशा यहीं परिवर्तित होती है।

धिक्कारपूर्ण कोशल की सीमा से निकल कर विरुद्धक साहसिक हो जाता है। वह अपनी प्रचण्ड शक्तियों के विकास से साम्राज्य में आतङ्क छा देता है। वह शैलेन्द्र नामधारी डाकू बन कर उचितानुचित का विचार छोड़ देता है। हत्या और लूट द्वारा वह शक्ति संग्रह करता है। कोशलनरेश प्रसेनजित् स्वयं उसकी शक्ति एवं पराक्रम से प्रभावित होकर अपने सेनापति बन्धुल की हत्या कराने के लिए उसका आश्रय लेते हैं। विरुद्धक चाणक्य की भाँति अपनी कार्य्यसिद्धि देखता है साधन चाहे कैसे ही हों। वह अपनी प्रगति

के मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध नहीं सहन कर सकता चाहे वह—कोमल हो या कठोर। बन्धुल की वह छलपूर्वक हत्या करता है। श्यामा को अपने 'भावी कार्य्यक्रम में विघ्नस्वरूप' पहचान कर ही उसकी हत्या करता है। वह अजात के पास एकाकी पहुँच कर कुशलतापूर्वक उसका विश्वासपात्र बनता है। पर्य्याप्त साधनों के अभाव से, तथा सहयोगी अजातशत्रु की दुर्बलता के कारण ही वह लक्ष्यप्राप्ति नहीं कर पाता। अन्यथा पराक्रम, साहस निर्भीकता और कुशलता उसमें ये ऐसी वैयक्तिक विशेषताएँ हैं जिनके द्वारा वह महत्वपूर्ण पद को प्राप्त करने में समर्थ है।

विरुद्धक में आत्मसम्मान की भावना बड़ी प्रबल है। आत्म-गौरव को धक्का लगने पर ही वह अपने पिता का राज्य त्याग देता है। स्वावलम्ब के अभाव में आत्मसम्मान की यथेष्ट रक्षा नहीं हो सकती। विरुद्धक आत्मनिर्भरता के आधार पर ही बन्धुल के प्रलोभन ठुकरा देता है। "मित्र! बन्धुल! मैं तो तिरस्कृत राज-सन्तान हूँ। फिर अपमान सहकर, चाहे वह पिता का सिंहासन क्यों न हो, मुझे रुचिकर नहीं।" × × × × "मैं दया से दिया हुआ दान नहीं चाहता। मुझे तो अधिकार चाहिए, स्वत्व चाहिए।" × × × "मैं बाहुबल से उपार्जन करूँगा। मृगया करूँगा। क्षत्रिय कुमार हूँ, चिन्ता क्या है।" उसके इन कथनों से स्वाभिमान और आत्मनिर्भरता पूर्णतया प्रकट होती है।

विरुद्धक के चरित्र पर राष्ट्रद्रोह कुटिलता, विश्वासघात और क्रूरता के आरोप लगाए जाते हैं। राष्ट्रद्रोह, वह परिस्थितियों की प्रेरणा से करता है। नाटककार ने इसका परिहार बड़ी सुन्दरता से मल्लिका द्वारा कराया है—"राजन्, विद्रोही बनाने का कारण भी आप ही हैं। बनाने पर विरुद्धक राष्ट्र का एक सच्चा शुभचिन्तक हो सकता था।" बन्धुल और श्यामा के प्रति विश्वासघात भी वह परिस्थितियों की प्रेरणा से ही करता है। बन्धुल के व्यक्तित्व

से उसे मोह है। तभी तो वह निर्भीकतापूर्वक उससे एकान्त में मिलकर उसे कोशल नरेश की दुर्नीति समझाने की चेष्टा करता है। बन्धुल जब उसकी बातों को नहीं मानता तो विरुद्धक को उसे अपने मार्ग से हटाना श्रेयस्कर है। तत्कालीन संस्कृति एवं युद्ध नियमों के अनुसार किसी की छलपूर्वक हत्या करना भले ही दोष हो पर साहसिक होने के नाते उसने बन्धुल के वध के लिए जिस उपाय का भी अवलम्बन किया उसके लिए उसके साहस और कौशल की सराहना की जायगी।

विरुद्धक में अन्य विशेषताओं के होते हुए भी उसका प्रणय चित्र बहुत ही मलिन और दोषपूर्ण है। उसमें नारी हृदय को पहिचानने की क्षमता नहीं है। वह जीवन के प्रभातकाल में मल्लिका को अपना हृदय देता है। मल्लिका का उसकी ओर उस समय कैसा भाव था यह नाटक से ज्ञात नहीं होता। अतः उसका प्रथम प्रेम एकाङ्गी है। प्रसेनजित् की इच्छा से मल्लिका का विवाह विरुद्धक से न होकर बन्धुल से होता है। विरुद्धक इसे ही अपने जीवन की भारी पराजय मान कर हताश हो बैठता है। आगे चल कर वह बन्धुल की छलपूर्वक हत्या करते समय यह जरा देर के लिए भी नहीं सोचता कि मल्लिका, जिसे वह कभी हृदय से प्यार करता था, उसके इस कार्य्य से कितना मर्माहत होगी। सच्चे प्रेमी के नाते उसे मल्लिका के हृदय की रक्षा करनी चाहिए थी। उदयन के हाथों घायल होने पर मल्लिका जब उसे अपनी कुटी में लाती है और सुश्रूषा द्वारा उसे स्वस्थ करती है तब भी वह वासनामय मलिन दृष्टि से ही उसके सेवाकार्यों की परख करता है। श्यामा के प्रति वह जो जघन्य अपराध करता है वह प्रणय-क्षेत्र में अक्षम्य है तथा उसके चरित्र पर महान कलङ्करूप है। कभी तो वह उसके सौन्दर्य में मग्न होकर कहता है—'श्यामा! तुम्हारे सौन्दर्य ने तो मुझे भुला दिया है कि मैं डाकू था।' उसके साथ विश्वासघात न करने के लिए वह सिद्धान्त की दुहाई देता है—

'विश्वास करने वाले के साथ डाकू भी ऐसा नहीं करते, उनका भी एक सिद्धान्त होता है।' किन्तु दूसरे ही क्षण वह उसका धन अपहृत कर उसका गला घोंट देता है। विरुद्धक की श्यामा के प्रति यह धारणा कि 'विश्वास के बल पर ही इसने (श्यामा ने) समुद्रदत्त के प्राण लिए; यह नागिन है, पलटते देर नहीं" बड़ी ही पोच और विवेकशून्य है। समुद्रदत्त के प्राण, श्यामा ने, विरुद्धक को मृत्यु-दण्ड से बचाने के लिए लिवाए। उसमें उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं है। विरुद्धक उसके इसी कार्य्य को उसकी हत्या का व्याज बनाता है। यह उसकी कोरी हृदय हीनता है। श्यामा उसे डाकू जान कर ही उससे प्रेम करती है। किन्तु वह उसके प्रेम का प्रतिदान करने के स्थान पर उसे वेश्या समझ कर उसके साथ क्रूरतापूर्ण विश्वासघात करता है। विरुद्धक को, क्षमा माँगने पर मल्लिका देवी की सहायता से, पिता का स्नेह, युवराज पद और राजकीय सम्मान पुनः प्राप्त होते हैं किन्तु अपने कर्मों से खोया हुआ प्रणय अधिकार उसे नहीं प्राप्त होता है। यह उपयुक्त साहित्यिक न्याय है।

उदयन

कौशाम्बी-नरेश उदयन का चरित्र, घटना और व्यापार की दृष्टि से नाटक के अन्तर्गत बहुत स्वल्प मात्रा में है। वह सुरा, संगीत और सुन्दरियों के बीच कालयापन करता है। उसमें स्वतंत्र विचार शक्ति का अभाव है और अपने विचारों पर दृढ़ रहने की क्षमता भी कम है। विलास प्रिय व्यक्तियों की प्रकृति में यह दुर्बलता स्वाभाविक है।

उदयन मागन्धी के रूप और यौवन पर आसक्त है। वह मागन्धी के प्रभावशाली रूप के चरणों पर अपना ममत्व तक लुटा देता है। मागन्धी के पास आने पर उसका समस्त ज्ञान एवं सद्विचार विलीन हो जाते हैं। मदिरा निषेध पर गौतम के उपदेश से प्रभावित होकर वह उसे न पीने का निश्चय करता है। मागन्धी के समक्ष उदयन अपने इस मनोविचार को व्यक्त भी करता है। परन्तु मागन्धी के प्रेमपूर्ण अनुरोध से वह अपने इस सत्संकल्प का परित्याग कर देता है। मागन्धी जब उससे कहती है—"मैं प्रार्थना करती हूँ, अपने हृदय को इस हाला से तृप्त कीजिए;" उदयन तत्काल उसे स्वीकार करता है—"उठो मागन्धी, उठो! मुझे अपने हाथों से अपना प्रेमपूर्ण पात्र शीघ्र पिलाओ, फिर कोई बात होगी।"

प्रायः कामुक एवं विलासी पुरुषों में विवेक का अभाव रहता है। वे सद् एवं असद् तथा शत्रु और मित्र में भेद नहीं कर पाते है। मागन्धी कुटिल कौशल द्वारा पद्मावती के विरुद्ध उदयन को उत्तेजित करती है। हस्तिस्कंध वीणा के अन्दर से निकले साँप के बच्चे को देख कर, मागन्धी के कथनानुसार, वह यह विश्वास कर लेता है कि पद्मावती ने उसके प्राण लेने का षड़यन्त्र किया। वह पद्मावती के प्राणों का शत्रु बन जाता है और उसके प्रत्येक

कार्य्य को सन्देह की दृष्टि से देखता है। पद्मावती को झरोखे से गौतम की बन्दना करते देख उदयन समझता है कि गौतम के प्रति पद्मा का वासनामय प्रेम है—"पापीयसी, देख ले, यह तेरे, हृदय का विष—तेरी वासना का निष्कर्ष जा रहा है। इसीलिए न यह नया झरोखा बना है।" वह उत्तेजित होकर उसकी हत्या करना चाहता है। 'सती का तेज और सत्य का शासन' विजयी होता है। खड्गयुक्त हस्त ऊपर उठकर रह जाता है, नीचे आता ही नहीं, मागन्धी के षड़यन्त्र का रहस्य भी खुल जाता है। उदयन को अपनी भूल ज्ञात हो जाती है। वह पद्मावती के सामने घुटने टेक कर अपने अपराधों की क्षमा मांगता है।

नाटक में उदयन का पराक्रमपूर्ण व्यापार प्रदर्शित नहीं है। उसकी अन्य पात्रों द्वारा संक्षिप्त सूचना मात्र है। वह कोशल के साथ मिलकर मगध पर आक्रमण करता है और युद्ध में विरुद्धक को घायल करता है।

उदयन का चरित्र नाटक की प्रधान कथावस्तु से विशेष सम्बन्धित नहीं है। इसीसे सम्भवतः उसका विस्तार कम है। उदयन और प्रसेनजित् के चरित्र प्रकारान्तर से बिम्बसार के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। उदयन भावुक और विलासी है। प्रसेनजित् क्रोधी और ईर्षालु है। दोनों ही अपनी दूषित चित्तवृत्तियों के प्रभाव से अपने हृदय की शान्ति खो देते हैं और पराभव प्राप्त करते हैं। उदयन पद्मावती के सामने घुटने टेकता है और प्रसेनजित् मल्लिका के समक्ष अनेक बार गिड़गिड़ाता है। बिम्बसार अपने आश्रम-धर्म के अनुसार विरक्त एवं विवेकयुक्त है। अतः उसे अपने किसी कर्म के लिए आत्मग्लानि और लज्जा नहीं अनुभव करनी पड़ती है। वरन् बिम्बसार से द्वेष करने वाले—उसके स्त्री और पुत्र—ही उसके सामने घुटने टेक कर क्षमा माँगते हैं। 'प्रसाद'

ने उदयन, प्रसेनजित् और बिम्बसार के व्यक्तित्व में क्रमशः काम, क्रोध और विवेकयुक्त वैराग्य के भावों का मानो साकार रूप प्रदान किया है। साथ ही आदर्श की दृष्टि से बिम्बसार के व्यक्तित्व की महत्ता प्रकट कर उन्होंने काम और क्रोध के विरोध में विवेक-पूर्ण वैराग्य मनोवृत्ति की गौरवपूर्ण एवं सजीव झांकी प्रस्तुत की है। नाटककार अपने इस प्रयास में पूर्ण सफल है।

गौतम

गौतम 'अजातशत्रु' नाटक में महात्मा पात्र हैं। वे नाटकीय आदर्श करुणा, अहिंसा एवं विश्वमैत्री के साकार रूप हैं। अपनी शीतल एवं मधुर वाणी से, तथा पवित्र और मनोहर आचरणों द्वारा वे उक्त आदर्शों का सर्वत्र प्रचार करते हैं।

गौतम का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। उनका समादर सर्वत्र होता है। वे देश के कोने कोने में घूम घूम कर आन्तरिक अव्यवस्थाओं को दूर करने का सतत प्रयत्न करते हैं। वे विश्व में तटस्थ भाव से विचरण करते हैं, किन्तु सांसारिक झगड़ों में, न्याय का पक्ष विजयी हो और समस्त सदाचारों की नींव संसार में स्थापित हो, इसी शुभेच्छा से प्रेरित होकर, वे उसमें भाग लेते हैं। गौतम मगध में बिम्बसार और अजातशत्रु के बीच संभावित संघर्ष को रोकते हैं; कोशल में वे प्रसेनजित् को सन्मार्ग प्रदर्शित करते हैं। प्रसेनजित् गौतम के प्रभाव से अपनी परित्यक्ता पत्नी शक्तिमती और विद्रोही पुत्र विरुद्धक को पुनः स्वीकार करता है। विरुद्धक राष्ट्रद्रोही से राष्ट्र का सच्चा शुभचिन्तक बन जाता है। कौशाम्बी में उदयन आदि को सदुपदेश देकर वे उनकी वासनामयी प्रवृत्तियों को दूर करते हैं।

गौतम के उपदेश हृदयग्राही हैं। वे जो बात कहते हैं वह अवसर के अनुकूल होती है। उनके उपदेशों में प्रतिपादित सिद्धान्त दार्शनिक होते हुए भी व्यावहारिक होते हैं। बिम्बसार छलना के कुटिल व्यवहार से क्षुब्ध हो कर उससे व्यङ्ग भाव से कहते हैं—"हाँ छलने! तुम जा सकती हो। किन्तु कुणीक को न ले जाना—क्योंकि तुम्हारा मार्ग टेढ़ा है।"

गौतम बिम्बसार की इसी बात को लेकर उसे विश्वमैत्री का मार्ग दिखाते हैं—"शीतल वाणी—मधुर व्यवहार से क्या वन्य

पशु भी वश में नहीं हो जाते ? राजन् संसार भर के उपद्रवों का मूल व्यङ्ग है। वाक्संयम विश्वमैत्री की पहिली सीढ़ी है।"

गौतम कोरे उपदेशक मात्र नहीं हैं। समाज में उनकी प्रभविष्णुता उनके व्यक्तिगत आचरणों द्वारा है। वे 'शुद्ध बुद्धि की प्रेरणा से सत्कर्म' करने के समर्थक हैं और अपने व्यक्तिगत आचरणों द्वारा उसे चरितार्थ करते हैं। मागन्धी गौतम को अपने विलास-पाश में आबद्ध करना चाहती है। इसमें असफल होने पर वह कौशाम्बी में उनके विरुद्ध षड़यन्त्र करती है। किन्तु जब उसी मागन्धी का विरुद्धक गला घोट कर उसे मृतप्राय दशा में छोड़ जाता है, तब गौतम, उसकी शुश्रूषा कर उसे पुनः जीवित करते हैं। देवदत्त, गौतम से, आजीवन शत्रुता का व्यवहार करता रहता है। मगध में उनके प्रभाव को रोकने के लिए वह अनेक षड़यन्त्र करता है। अन्ततो-गत्वा वह गौतम का प्राण लेने को उद्यत होता है। भिक्षुओं ने तथागत से कहा—'देवदत्त आपका प्राण लेने आ रहा है, उसे रोकना चाहिए।' गौतम अविचलित भाव से उत्तर देते हैं—"घबराओ नहीं, देवदत्त मेरा कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता। वह स्वयं मेरे पास नहीं आ सकता; उसमें इतनी शक्ति नहीं क्योंकि उसमें द्वेष है।' वास्तव में गौतम के आत्मबल के सम्मुख देवदत्त का पशुबल पराजित होता है। देवदत्त मार्ग में ही ग्राहग्रहीत हो काल कवलित होता है।

गौतम का प्रभाव व्यापक है। राजा और रङ्क, स्त्री और पुरुष—सभी उनके परदुःखकातरता—प्रेरित अपूर्व राज्य-त्याग, एवं आकर्षक व्यक्तित्व से, प्रभावित हैं। उनका 'शान्त मुखमण्डल स्निग्ध गम्भीर दृष्टि' सभी को अपनी ओर आकर्षित करती है। बिम्बसार, उदयन, प्रसेनजित् सदृश नरेश उनकी पाद बन्दना करते हैं और उनके उपदेश-पूर्ण आदेशों को ग्रहण कर अपना जीवन-मार्ग निर्धारित करते हैं। गौतम के विरोधी भी अपना विरोध

भाव भूल कर उनकी शरण में आते हैं और उनका उपदेश ग्रहण कर अपना जीवन सफल करते हैं। अजात शत्रु, छलना, मागन्धी, शक्तिमती, विरुद्धक आदि गौतम की शीतल वाणी और शान्तिमय व्यवहारों से उनके प्रति अपना द्वेषभाव भूल जाते हैं। गौतम के मूल सिद्धान्त अहिंसा, करुणा और विश्वमैत्री सार्वभौमिक हैं। वह इन्हीं सिद्धान्तों का उपदेश और आचरण करते हुए यथार्थ रूप में सच्चे महात्मा हैं।

देवदत्त

देवदत्त 'अजातशत्रु' नाटक का खल पात्र है। वह गौतम का विरोधी है। देवदत्त गौतम के प्रति विरोध भाव से ही प्रेरित होकर राजनीति में भाग लेता है। वह अत्यन्त कुटिल और कुचक्री है; साथ ही वह अपनी कार्य्यसिद्धि के लिए बड़ा व्यवहार कुशल भी है। वह छलना और अजातशत्रु के हृदय में बिम्बसार और वासवी के प्रति द्वेष और द्रोह की सृष्टि करता है और मगध के राज परिवार में आन्तरिक कलह की ज्वाला प्रज्वलित करता है। वह आत्मकौशल से मगध परिषद् की प्रधानता ग्रहण करता है और वासवी और बिम्बसार पर प्रतिबन्ध बैठाने वाले प्रस्ताव को स्वीकार करवा लेता है। देवदत्त का कार्य्यक्षेत्र प्रधानतः मगध है। वह महत्वाकांक्षी भी है।

देवदत्त बौद्धसंघ में सम्मिलित होते हुए भी गौतम से विरोध वश उससे प्रथक् हो जाता है। गौतम से उसका विरोध धार्मिक क्षेत्र में नहीं है। वह उनकी प्रभविष्णुता से द्वेष करता है; और अपनी महत्वाकांक्षावश वह स्वयं समस्त जम्बू द्वीप का, धर्मगुरु के रूप में शासक बनना चाहता है। द्वेषवश वह गौतम की प्रशंसा कभी नहीं सुन सकता है। अजातशत्रु की राज्य प्राप्ति के विषय में समुद्रदत्त उससे कहता है—'गौतम यदि न चाहते तो यह काम सरलता से न हो सकता।' देवदत्त तत्काल इसका प्रतिकार करता है—"फिर उसी ढकोसले वाले ढोंगी की प्रशंसा! अरे समुद्र, यदि मैं इसकी चेष्टा न करता तो यह सब कुछ न होता।" देवदत्त लोकोपकार के आवरण में आत्मोन्नति का अभिलाषी है और उसके लिए वह प्रत्येक वैध एवं अवैध उपाय का आश्रय ग्रहण करता है। अजातशत्रु उसके कार्य्य-साधन का अस्त्र है। वह उसे विद्रोह

युद्ध और हिंसा आदि के लिए सदैव उत्तेजित करता रहता है। उसका विश्वास है कि अजात को अपनी योजनाओं से शक्तिशाली बना देने से वह उसका सदैव अनुगामी रहेगा और गौतम का प्रभाव मगध पर न पड़ने पाएगा।

हिंसा और क्रूरता आदि का उत्कर्ष क्षणिक होता है। उनके द्वारा शाश्वत सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती। अजातशत्रु केवल एक बार युद्ध में विजयी होता है। बाद में पराजित होकर वह बन्दी हो जाता है। प्रथम युद्ध में विजयी होने पर भी देवी मल्लिका के प्रभाव से अजात में हृदय परिवर्तन हो जाता है अतः वह देवदत्त का उपयुक्त साधन नहीं रह जाता। दूसरे युद्ध में अजात के पराजित होने पर उसके द्वारा कार्य्य साधन की देवदत्त की समस्त अभिलाषाएँ दूर हो जाती हैं। अतः वह स्वयं प्रत्यक्ष रूप से गौतम पर प्रहार कर उनका प्राण लेने को उद्यत होता है। उसके द्वेष भाव का यह चरम स्वरूप है। देवदत्त को इसमें भी असफलता होती है क्योंकि गौतम के पास पहुँचने के पूर्व ही वह सरोवर में डूब कर मर जाता है।

देवदत्त का चरित्र असद्वृत्तियों से आक्रान्त होने के कारण सद्गुण सम्पन्न गौतम के चरित्रोत्कर्ष प्रदर्शन में पूर्ण सहायक है। उसका पापमय चरित्र, गौतम के पुण्यमय चरित्र के लिए कसौटी-रूप है। खल वृत्तियों का उदय, उनका विकास एवं तज्जन्य जीवन परिणिति देवदत्त के चरित्र में बड़ी स्वाभाविकता से प्रदर्शित है।

बन्धुल

बन्धुल कोशल का प्रधान सेनापति है। वह अत्यन्त पराक्रमी रणकुशल एवं स्वामिभक्त है। अपने पराक्रम और रणचातुर्य्य से पावा सरोवर की रक्षा करने वाले पाँच सौ मल्लों को वह अकेले ही निरस्त्र कर पराजित करता है। उसके अधिनायकत्व में कोशल के समस्त विद्रोही पराजित होते हैं और कोशल के सीमान्त पर 'शान्ति स्वयं पहरा' देने लगती।

बन्धुल वीर होने के साथ ही सरल और स्वामिभक्त है। प्रसेनजित् उसके बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उससे ईर्षा करने लगता है। वह उसकी वीरता से आतङ्कित होकर उसे काशी का सामन्त बनाकर भेजता है। बन्धुल को काशी का सामन्त बनाया जाना रुचिकर नहीं है। वह अनुभव करता है कि 'यह सामन्त का आडम्बर पूर्ण पद कपटाचरण की सूचना देता है।' उसे तो 'सरल और सैनिक जीवन ही रुचिकर है' किन्तु 'राजा की आज्ञा' शिरोधार्य्य कर वह सामन्त पद स्वीकार करता है और अपनी निश्छल स्वामिभक्ति को कभी दूषित नहीं होने देता है।

बन्धुल के शौर्य्य और स्वामिभक्ति की परीक्षा विरुद्धक के सामने होती है। विरुद्धक उसके सामने आकर कहता है कि काशी का सामन्त बनाकर भेजने में प्रसेनजित् का एक षड़यन्त्र है जिसमें उसका अस्तित्व न रहे। अपने विरुद्ध षड़यन्त्र की इतनी स्पष्ट सूचना पाने पर भी प्रसेनजित् से वह विद्रोह नहीं करता, वरन् वह विद्रोही राजकुमार विरुद्धक को बन्दी बनाने के लिए ललकारता है। वह चाहता तो विरुद्धक को सहयोग देकर प्रसेनजित् को सिंहासन च्युत कर देता। विरुद्धक उसके सहयोग का अभिलाषी भी है।

वह कोशल का सिंहासन हस्तगत करना चाहता है। किन्तु बन्धुल स्वामिभक्ति की प्रेरणा से उसके प्रलोभनों को अस्वीकार कर देता है। विरुद्धक की चेतावनी की उपेक्षा कर वह अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ रहता है।

बन्धुल के शौर्य्य का ओजस्वी चित्रण नाटककार ने मल्लिका के द्वारा कराया है। मल्लिका अपने पति के विषय में अपने अनुभव के आधार पर कहती है—"वे तलवार की धार हैं, अग्नि की भयानक ज्वाला हैं, और वीरता के वरेण्य दूत हैं। मुझे विश्वास है कि सम्मुख युद्ध में शक्र भी उनके प्रचण्ड आघातों को रोकने में असमर्थ है।" युद्ध के प्रति उत्साह और साहस ही वीरता के सच्चे निदर्शन हैं। पाँच सौ मल्लों से सदैव सुरक्षित पावा के अमृत सरोवर में अपनी प्रियतमा भार्य्या को अकेले जल पिलाने ले जाना उसके अदम्य उत्साह का परिचायक है। मल्लिका ने यद्यपि शङ्कित भाव से उससे कहा 'दूसरी जाति का कोई भी उसमें जल नहीं पीने पाता है।' बन्धुल तुरन्त उत्साहपूर्ण शब्दों में उसका समाधान करता है—'तभी तो तुम्हें वह जल अच्छी तरह पिला सकूँगा।" बन्धुल के रणोत्साह और साहस का परिचय विरुद्धक के साथ द्वन्द्वयुद्ध में भी मिलता है। शैलेन्द्र नामधारी विरुद्धक बन्धुल को द्वन्द्वयुद्ध के लिये निमन्त्रित करता है। बन्धुल एक सच्चे वीर की भाँति उसे स्वीकार करता है। क्रूर विरुद्धक छलपूर्वक उस पर आघात कर यद्यपि उसे मार डालता है, फिर भी बन्धुल के आघातों से वह बच नहीं पाता। वह भी घायल होकर बन्दी होता है। 'अजातशत्रु' नाटक में सरल, स्वामिभक्त सैनिक के रूप में बन्धुल का सफल चित्रण है।

दीर्घकारायण

कोशल—सेनापति बन्धुल का भागिनेय दीर्घकारायण, शूर सैनिक है। उसमें मानवोचित दुर्बलताओं के साथ विवेक भी है। वह प्रसेनजित् से असन्तुष्ट है। प्रसेनजित् ने उसके मातुल बन्धुल से विश्वासघात कर उसका वध कराया है। दीर्घकारायण के हृदय में प्रसेनजित् के विरुद्ध प्रतिहिंसा का जागृत होना स्वाभाविक है। वह प्रतिहिंसा की ज्वाला से निरन्तर सन्तप्त रहता है। मल्लिका, शक्तिमती, विरुद्धक आदि अनेक पात्रों के समक्ष वह अपने भावों को व्यक्त करता है। वह मल्लिका के समक्ष बड़े आग्रह से प्रसेनजित् से प्रतिशोध लेने का प्रस्ताव रखता है—"इसीलिए मैं तो यही कहूँगा कि इस मरणासन्न घमण्डी और दुर्वृत्त कोशल नरेश की रक्षा आपको नहीं करनी चाहिए।"

दीर्घकारायण के हृदय में प्रतिहिंसा का भाव प्रबल रूप में होने पर भी, उसमें विवेक है। वह सदुपदेश ग्रहण करता है। मल्लिका के करुणा और विश्वमैत्री मूलक उपदेशों के प्रभाव से उसकी प्रतिहिंसा दब जाती है। शक्तिमती के समक्ष वह अपने इसी मनोभाव को व्यक्त करता है—"देवि! मैं एक दिन में इस कोशल को उलट-पलट देता, छत्र-चामर लेकर हठात् विरुद्धक को सिंहासन पर बैठा देता, किन्तु मन के बिगड़ने पर भी मल्लिका देवी का शासन मुझे सुमार्ग से न हटा सका।"

कारायण केवल प्रसेनजित् के व्यक्तित्व से असन्तुष्ट है। वह व्यक्तिगत द्वेषभाव से राष्ट्र का अहित करने को तैय्यार नहीं है। विरुद्धक पिता से द्रोह करने के साथ ही राष्ट्र से भी द्वेष करता है। वह कारायण को भी उकसाकर अपनी ओर मिलाने का पूर्ण प्रयत्न करता है। शक्तिमती भी कारायण को अपने राष्ट्रद्रोही पुत्र की

सहायता करने के लिए उत्तेजित और प्रोत्साहित करती है। किन्तु वह राष्ट्रद्रोह में उनका साथ नहीं देता। उसके इस कार्य्य से उसका विवेकपुष्ट राष्ट्रप्रेम प्रकट होता है; और विरुद्धक के प्रति विश्वासघात करने का आरोप भी उस पर नहीं लगाया जा सकता है। कारायण विरुद्धक के समक्ष जो अपनी सफाई देता है उससे यही बात व्यंजित होती है—"राजकुमार, मैं आपसे भी क्षमा चाहता हूँ, क्योंकि आप जिस विद्रोह के लिए मुझे आज्ञा दे गए थे, मैं उसे करने में असमर्थ था—अपने राष्ट्र के विरुद्ध यदि आप अस्त्र ग्रहण न करते तो सम्भवतः मैं आपका अनुगामी हो जाता, क्योंकि मेरे हृदय में भी प्रतिहिंसा थी। किन्तु वैसा न हो सका। उसमें मेरा अपराध नहीं।"

नाटक में राजकुमारी बाजिरा के प्रति कारायण का प्रणय भाव प्रदर्शित है। कारायण का प्रेम एकांगी है। बाजिरा उसकी ओर आंख उठाकर देखती भी नहीं है। वह बंदी गृह में बाजिरा को अजात के साथ प्रेमाभिनय करते देखकर क्षुब्ध हो जाता है और उससे कहता है—"आह! मेरी समस्त आशाओं पर तुमने पानी फेर दिया.....।" बाजिरा उसे तत्काल उपेक्षापूर्ण उत्तर देती है—"सावधान! कारायण, अपनी जीभ सम्हालो।" इससे स्पष्ट है कि बाजिरा का उसके प्रति आकर्षण नहीं है। इस घटना के बाद केवल एक स्थल पर हम कारायण को अपने प्रेम को असफलता पर पश्चात्ताप करते हुए पाते हैं। वह शक्तिमती से कहता है—"रानी! हम इधर से भी गए और उधर से भी गये। विरुद्धक को भी मुँह दिखाने लायक न रहे और बाजिरा भी न मिली।" बाजिरा के प्रति कारायण का प्रेम सम्भवतः महत्वाकांक्षा प्रेरित है। वह बाजिरा को हस्तगत कर कोशल के सिंहासन का उत्तराधिकारी बनना चाहता है। ऐसे स्वार्थयुक्त प्रेम का जो परिणाम होना चाहिए वही होता भी है।

दीर्घ कारायण का चरित्र सामान्य कोटि का है। न तो वह सद्गुणों की खान है न वह दुर्वृत्तियों का आवास ही है। सद् और असद् वृत्तियों का उदय उसके हृदय में सहवास के कारण होता है। विरुद्धक और शक्तिमती के समक्ष तो प्रसेनजित् के प्रति उसकी प्रतिहिंसा सजग हो जाती है पर मल्लिका के प्रभाव में आने पर वह शान्त हो जाता है।

वासवी

वासवी के चरित्र में स्त्री-सुलभ कोमलता, स्निग्धता, सहिष्णुता तथा अखण्ड पतिभक्ति प्रदर्शित है। वह कठिन से कठिन परिस्थितियों में अपने पति बिम्बसार के साथ जीवन निर्वाह करती है। उसकी सपत्नी छलना और सपत्नी-पुत्र अजात उसके साथ शत्रुवत् व्यवहार करते हैं। उसके ऊपर प्रतिबन्ध बैठा दिया जाता है। उसे राज्य से आर्थिक सहायता नहीं मिलती। उसकी स्वतन्त्रता सीमित कर दी जाती है। किन्तु वह निरन्तर अनन्य भाव से अपने पति की सेवा में तत्पर रहती है। वासवी अपनी शान्ति और स्निग्ध वाणी द्वारा बिम्बसार के उत्तेजित हृदय को शान्त रखती है; उसके वैराग्ययुक्त विचारों का वह समर्थन कर उन्हें पुष्ट करती रहती है। वह अपने पति की इच्छापूर्ति के लिए अपनी अति प्रिय वस्तु का भी त्याग सहर्ष कर देती है। बिम्बसार की इच्छानुसार वह भिक्षुकों को अपना रत्नजटित स्वर्ण-कङ्कण सहर्ष देती हुई कहती है—'प्रभु! इन स्वर्ण और रत्नों का आँखों पर बड़ा रङ्ग रहता है, जिससे मनुष्य अपना अस्थि-चर्म का शरीर तक नहीं देखने पाता।"

वासवी की सहिष्णुता और कोमलता तो अलौकिक है। उसकी सपत्नी छलना पग पग पर उसे अपमानित करती है, उस पर व्यङ्ग वर्षा करती है, तथा वह उसे नाना प्रकार की मानसिक यंत्रणाएँ पहुंचाती है। किन्तु वासवी पूर्ण निर्विकार हृदय से छलना की कल्याण कामना करती हुई, उसकी सद्बुद्धि के लिए प्रार्थना करती है। वह छलना के एक भी कटुवचन का कठोर प्रत्युत्तर नहीं देती है। अजात की प्रथम विजय से गर्वोन्नत छलना, अत्यन्त दृप्त-भाव

से वासवी पर व्यंग्य वर्षा करती है—'किन्तु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और संदेश भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।' बिम्बसार छलना की इस कठोर उक्ति से अत्यन्त उत्तेजित हो जाता है, किन्तु वासवी अपनी स्वाभाविक सहिष्णुता का परिचय देती हुई पूर्ण शान्त भाव से यही कहती है—"बहिन ! जाओ, सिंहासन पर बैठकर राजकार्य्य देखो। व्यर्थ झगड़ने से तुम्हें क्या सुख मिलेगा ? और अधिक तुम्हें क्या कहूँ; तुम्हारी बुद्धि !"

संतोष और सहिष्णुता के समक्ष महत्वाकांक्षा और प्रमाद का पराभव प्रकृति-सिद्ध है। संतोष, उदारता, सहिष्णुता आदि मानव के सहज धर्म हैं। अहंकार, मात्सर्य, द्वेष आदि पाशव वृत्तियाँ है। मानवता सदैव ही पशुता पर विजयिनी हुई है। अतः मानवता के स्वाभाविक गुणों से अलंकृत वासवी के समक्ष पशुवत् प्रमादपूर्ण एवं ईर्षायुक्त आचरण करने वाली छलना को भी घुटने टेकने पड़ते हैं। हिंसा, कुटिलता और क्रूरता की नींव पर उठाया हुआ छलना के महत्व का प्रासाद धराशायी होता है; उसका अजात युद्ध में घायल होकर बन्दी होता है। तब उसकी आँखें खुलती हैं। वह वासवी से अपने पुत्र की भिक्षा माँगती हुई अपने हृदय की दुर्बलताओं को ग्लानियुक्त भाव से स्वीकार करती है—'मेरा कुणीक मुझे दे दो, मैं भीख माँगती हूँ। मैं नहीं जानती थी कि निसर्ग से इतनी करुणा और इतना स्नेह, सन्तान के लिए, इस हृदय में सञ्चित था। यदि जानती होती तो इस निष्ठुरता का स्वांग न करती।' अजात भी अपनी माता की कुशिक्षा के प्रभाव से वासवी की उपेक्षा और अनादर एक लम्बे समय तक करता रहता है। किन्तु अन्त में उसे वासवी की निश्छल प्रीति की प्रतीति होने पर वह भी उसकी गोद में बैठ कर अपूर्व शीतलता का अनुभव करता

है। वासवी के हृदय की सात्विक कोमलता, स्नेहभाव आदि परिस्थितिजन्य नहीं है। वे सुख दुःख, विजय पराजय आदि सभी जीवनदशाओं में समभाव से रहने वाले उसके हृदय के सामान्य धर्म हैं। उसका समस्त जीवन उनसे अनुप्राणित है। वह अजात को प्रसेनजित् के कारावास में एक क्षण के लिए भी बन्दी दशा में नहीं देख सकती है। वह उसे तत्काल ही मुक्त कराती है। छलना जब सच्चे हृदय से पश्चात्ताप प्रकट करती हुई बिम्बसार से अपने दुष्कर्मों के लिए क्षमायाचना करती है तब वासवी कौशल-युक्त कथन से उसे अपना सहयोग देती है। वह बिम्बसार से छलना के लिए क्षमादान की सिफारिश करती हुई कहती है—"आर्य्यपुत्र! अब मैंने उसको दण्ड दे दिया है, यह मातृत्व के पद से च्युत की गई है, अब इसको आपके पौत्र की धात्री का पद मिला है। एक राजमाता को इतना बड़ा दण्ड कम नहीं है; अब आपको क्षमा करना ही होगा।"

बिम्बसार स्वयं वासवी के अलौकिक गुणों पर मुग्ध होकर चकित होता है। वह कहता है 'वासवी! तुम मानवी हो कि देवी।' वास्तव में वासवी मानवी रूप में देवी है।

छलना

मगध की राजमाता, छलना, अपनी लिच्छिवजातिगत महत्वाकांक्षा, क्रूरता और कुटिलता से जीवन में महत्वपद की अभिलाषिणी है। वह अपने पुत्र अजातशत्रु को कुशिक्षा द्वारा अविनय और क्रूरता के लिए प्रोत्साहित करती है। छलना अपने पति से खुले शब्दों में ललकार कर कहती है—"आपको कुणीक के युवराज्याभिषेक की घोषणा आज ही करनी पड़ेगी।" वह बिम्बसार से राज्यसत्ता हस्तगत करके ही सन्तुष्ट नहीं होती वरन् वह उनपर और अपनी सपत्नी वासवी पर, युद्धकाल में शान्तिव्यवस्था के नाम पर सैनिक नियन्त्रण प्रतिष्ठित कराती है। मगध-परिवार के अशान्तिमय और क्षोभयुक्त जीवन का मूल कारण छलना है। गौतम और वासवी के कारण ही मगध की राज्यसत्ता बिना रक्तपात के हस्तान्तरित होती है। छलना तो सम्भवतः उसे शस्त्रबल से भी प्राप्त करने की चेष्टा करती।

छलना में स्वाभिमान प्रमाद और प्रतिहिंसक प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में है। उसकी 'धमनियों में लिच्छिव-रक्त बड़ी शीघ्रता से दौड़ता है।' इसी की विडम्बना में वह वासवी का पग पग पर अपमान करती है। और उन्हें मर्माहत करने के लिए वह उन पर व्यंग्यवर्षा करती है। वासवी का पटरानी होना उसे असह्य है। वह बिम्बसार के इस शान्तिपूर्ण अनुरोध को भी "देवी वासवी के लिए थोड़ा सा भी सम्मान कर लेना तुम्हे लघु नहीं बना सकता"—निर्दयतापूर्वक ठुकरा देती है। छलना इतनी ओछी प्रकृति की है कि अपनी दुर्नीति में किंचित सफलता मिलने पर वह अपना गर्व प्रदर्शित करने तथा अपनी प्रतिहिंसा को संतुष्ट करने के लिए अकारण ही वासवी के पास जाती है और उसे अपने वाक्शरों से विद्ध करने का असफल

प्रयास करती है। वह अपने को बवंडर घोषित करती हुई बिम्बसार और वासवी के समक्ष उपस्थित होती है। उन्हें वह अपने रण-दुर्मद पुत्र अजात की कौशल-विजय का सन्देश गर्वोन्मेषित शब्दों में देती है और इस समाचार को, सामान्य अनुचर के स्थान पर स्वयं ही उपस्थित होकर बतलाने का कारण निर्देष करती हुई कहती है—"किन्तु वह मेरी जगह तो नहीं हो सकता था और संदेश भी अच्छी तरह से नहीं कहता। वासवी के मुख की प्रत्येक सिकुड़न पर इस प्रकार लक्ष्य न रखता, न तो वासवी को इतना प्रसन्न ही कर सकता।" छलना की इस कटूक्ति में उसके हृदय का समस्त विष सन्निहित है। उसकी कुटिलता, क्षुद्रता, प्रमाद आदि को उसके इस कथन का प्रत्येक शब्द पुकार पुकार कर व्यंजित कर रहा है। उसकी अधिकांश उपर्युक्त दुर्वृत्तियाँ रक्त-गुण से प्रभावित होने के कारण संकट काल में भी उसे सहज ही नहीं छोड़ती। वह अपनी दुर्बलताओं में भी सबल होने का मिथ्या स्वांग भरती है। कोशल के साथ द्वितीय युद्ध में अजात पराजित होकर बन्दी होता है। छलना की प्रतिहिंसा पुनः सजग होती है। वह वासवी के सामने जाकर उसे ललकारती है—"वासवी, सावधान! मैं भूखी सिंहनी हो रही हूँ।" वह अपनी दुर्भावनाओं से इतनी अल्पज्ञ हो जाती है कि उसे हिताहित का भी ज्ञान नहीं रहता। वासवी स्वयं कोशल जाकर अजात को छुड़ाने का प्रस्ताव करती है। छलना प्रमाद प्रेरित होकर प्रत्युत्तर देती है—"यह और भी अच्छी रही—जो हाथ का है उसे भी जाने दूं? क्यों वासवी! पद्मावती को पढ़ा रही हो?"

छलना में महत्वाकांक्षा की भावना प्रबलरूप से है। युद्ध के लिए हतोत्साहित और अनिच्छुक अजात से वह कहती है—"बच्चे! मैंने बड़ा भरोसा किया था कि तुम्हें भारतखण्ड का सम्राट् देखूँगी

और वीर-प्रसूती होकर एक बार गर्व से तुमसे चरण-बन्दन कराऊँगी।" वह अपनी अदूरदर्शिता से ही हिताहित की पहिचान न कर देवदत्त के इशारों पर चलती है।

नारी-हृदय की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के विरुद्ध चलने के कारण छलना अपने उद्देश्यों में असफल होती है। वासवी के शब्दों में—"नारी का हृदय कोमलता का पालना है, दया का उद्गम है, शीतलता की छाया है और अनन्य भक्ति का आदर्श है।" छलना अपने जीवन में इनकी उपेक्षा कर व्यर्थ ही पुरुषार्थ का ढोंग करती है। परिणामस्वरूप वह पुत्र भी खोती है और पति की भी विद्रोहिनी होती है।

छलना की आखें अपनी असफलता का प्रत्यक्षीकरण करने पर खुलती हैं। वासवी के निरन्तर शीतल व्यवहार ने उसके रक्त की उष्णता पर विजय पाई। वह रोती हुई वासवी के अञ्चल में मुँह डाल कर उससे अपने पुत्र की भीख माँगती है। वासवी की कृपा से ही उसे आत्मबोध होता है जिससे वह अपने पति के समक्ष अपने दुराचरणों के लिए ग्लानि प्रकट करती हुई क्षमा माँगती है। उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का अन्त, अजात को द्वितीय युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने के साथ ही होता है। वासवी के समक्ष उसकी रोषपूर्ण झलक निर्वाणोन्मुख दीपशिखा के अवशिष्ट आलोक की भाँति है। उसके बाद वह वासवी को पूर्णतया आत्मसमर्पण कर उसी के प्रयास से अपने खोए हुए मातृत्व और पत्नीत्व को पुनः प्राप्त करती है।

मागन्धी (श्यामा)

दरिद्र-कन्या मागन्धी अपने रूप और कौशल से जीवन की सामान्यतम स्थिति से उठकर चरम ऐश्वर्य एवं वैभव को प्राप्त करती है। वासना की अतृप्ति में वह विभिन्न जीवन दशाओं का अतिक्रमण करती हुई पुनः अपनी पूर्व सामान्य दशा को पहुँच जाती है। वासना और वैभव के पंक से निकलने पर ही उसे जीवन की सच्ची शान्ति और सुख प्राप्त होते हैं। नारी-जीवन की इस अनेकरूपता में ही उसके चरित्र का महत्व है।

मागन्धी की अकिंचनावस्था में, उसके पास, उसकी एकमात्र सम्पत्ति उसका रूप है। वह सर्व साधारण के आकर्षण की वस्तु है। उसके रूप ने कौशाम्बी नरेश उदयन को उसके चरणों में लुटा दिया। कुटिल कूट-नीतिज्ञ समुद्रदत्त उसके रूप से प्रभावित हो उसका बिना मूल्य का दास बन जाता है और कठोर क्रूर-कर्म्मा विरुद्धक भी उसके सौन्दर्य्य के प्रभाव से भूल जाता है कि वह डाकू है। मागन्धी के सम्पर्क में आनेवालों में केवल महात्मा गौतम ही उसकी रूपशिखा के शलभ नहीं बनते।

मागन्धी में रूप होने के साथ ही रूप-गर्व भी है। किसी के द्वारा वह इसकी उपेक्षा सहन नहीं कर सकती। गौतम उसके रूप का तिरस्कार करते हैं। रूप-गर्व में मदान्ध मागन्धी की प्रतिशोध भावना 'गौतम के विरुद्ध भभक उठती है। वह निश्चय करती है—"दिखला दूंगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती हैं।"

मागन्धी की कूटबुद्धि, वाक्चातुरी और कार्य्य-तत्परता उसे अपने निश्चयों को कार्य्य रूप में परिणित करने में बड़े सहायक हैं। गौतम के प्रति प्रतिशोध भावना तथा दरिद्र कन्या होने के

कारण उदयन के महलों में अपमान की यन्त्रणा से प्रताडित होकर वह एक ही चोट से गौतम और उदयन दोनों को एक साथ पराभूत करने का कौशलयुक्त षड़यन्त्र करती है। पद्मावती के महल से मँगाई हुई हस्तिस्कंध वीणा से जिस कौशल द्वारा साँप का बच्चा निकलवाकर वह उदयन का हृदय गौतम और पद्मावती की ओर से फेर देती है वह सराहनीय है। इसी प्रकार से विरुद्धक की प्राण-रक्षार्थ वह कूट कौशल द्वारा समुद्रदत्त को काशी के दण्डनायक के पास विरुद्धक के स्थान पर उसे सूली पर चढ़ाने के लिए भेज कर अपना अभीष्ट सिद्ध करती है।

मागन्धी में साहस और दृढ़ता है तथा वह परिस्थितियों पर विजय पाने की क्षमता रखती है। कौशाम्बी के महल में सफलता को हाथ से निकलते देख कर वह साहसपूर्वक अग्निकांड प्रस्तुत करती हुई अछूती निकल जाती है। बन्धुल द्वारा विरुद्धक के घायल और बन्दी होने का समाचार प्राप्त कर वह चिन्तित अवश्य होती है पर अधीर नहीं होती, और बड़ी स्वाभाविकता से दण्ड-नायक का संदेश सुनकर दासी से कहती है—'अच्छा सुन चुकी। जा शीघ्र सङ्गीत का सम्भार ठीक कर·····।

मागन्धी अभीष्ट सिद्ध में निर्मम भी है। वह आत्मसुख की प्राप्ति के लिए प्रत्येक वैध अथवा अवैध मार्ग का अवलम्बन कर सकती है। आत्म-स्वातन्त्र्य और आत्म-सुख की चिर-अभिलाषा अपने हृदय में सञ्चित किए हुए वह कहती है—"मैं उसी श्यामा की तरह हूँ जो स्वतन्त्र है, राजमहल की परतन्त्रता से बाहर आई हूँ। × × × × फूलों की धूल से अङ्गराग बनाऊँगी, चाहे उसमें कितनी ही कलियाँ क्यों न कुचलनी पड़ें! चाहे कितनों ही के प्राण जाँय, मुझे कुछ चिन्ता नहीं। कुम्हलाकर फूलों को कुचल देने में ही मुझे सुख है।" मागन्धी आत्म-स्वातंत्र्य और आत्म-सुख के लिए ही उदयन का महल परित्याग कर काशी की

सुप्रसिद्ध वारविलासिनी श्यामा बन जाती है। उसे न तो उदयन का महल फूँक कर आने में घबड़ाहट होती है और न वह समुद्रदत्त को सूली पर चढ़ाने के लिए भेजने में ही हिचकती है।

मागन्धी के प्रथम यौवन आवेग में वासना का ही प्राधान्य है। गौतम और उदयन के प्रति उसका प्रणयभाव वासनामूलक है। वासना तृप्ति के लिए ही वह वारविलासिनी बन जाती है। विरुद्धक का साक्षात्कार होने पर उसके हृदय में स्थायी प्रणयभाव का उदय होता है। सात्विक प्रणयभाव पूर्ण विश्वास और बलिदान सापेक्ष है। वासना की भाँति वह आत्मतुष्टि में ही सीमित नहीं रहता। वह आलम्बन के प्रति पूर्ण विश्वस्त हो उसके दुःख सुख से दुःखी और सुखी होता है तथा आलम्बन के लिए सर्वस्व बलिदान की तत्परता रखता है। विरुद्धक के प्रति मागन्धी का प्रणय भाव इसी कोटि का है। वह शैलेन्द्र नाम धारी डाकू विरुद्धक पर पूर्ण विश्वास करके उससे मिलने एकान्त जङ्गल में जाती है। वह शैलेन्द्र से कहती है—"शैलेन्द्र, लो यह अपनी नुकीली कटार, इस तड़पते हुए कलेजे में भोंक दो।" श्यामा की इस उक्ति से उसका निश्छल आत्मसमर्पण अभिव्यक्त होता है।

वह वारविलासिनी होते हुए भी प्रेम करना जानती है। प्रियतम की विपन्नावस्था अवगत कर वह भी अपनी शान्ति और सुख खो देती है। विरुद्धक घायल और बन्दी होता है पर उसके साथ ही मागन्धी की प्रणयलता पर मानों वज्रपात होता है। प्रिय शैलेन्द्र के बचाने की चिन्ता में वह अपना समस्त ऐश्वर्य सुख भूल जाती है। मागन्धी का प्रणय प्रेमी के वियोग में मूक रुदन कराने वाला नहीं है वरन् वह उसे कठोर कर्त्तव्यों की ओर प्रेरित करता है। वह समुद्रदत्त को चकमा देकर शूली-ग्रह में विरुद्धक का स्थान ग्रहण करने उसे भेज देती है। यद्यपि विरुद्धक उसके प्रणय की सत्यता को नहीं पहिचानता और एकान्त वनप्रदेश में उसकी हत्या

का प्रयास कर उसका सर्वस्व अपहरण करता है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि श्यामा उसे हृदय से चाहती है और उसके प्रणय में यथार्थता पूर्ण रूप से है।

मागन्धी के जीवन में अन्तिम परिवर्तन घटनाओं के घात-प्रतिघात और आत्म निरीक्षण से है। विरुद्धक की निष्ठुरता से उसका प्रताड़ित हृदय, गौतम के सहज करुणाभाव और मल्लिका की अलौकिक क्षमाशीलता से, विश्व के वैभव सुखों से विरक्त होकर वासना विहीन हो जाता है और उसमें पुनीत सात्विकता का उदय हो जाता है। मल्लिका उसके सामने ही विरुद्धक से उसे पुनः अपनाने के लिए कहती है किन्तु मागन्धी स्वतः उसे अस्वीकार करती हुई कहती है—"नहीं देवि ! अब मैं आपकी सेवा करूँगी, राजसुख मैं बहुत भोग चुकी हूँ। अब मुझे राजकुमार विरुद्धक का सिंहासन भी अभीष्ट नहीं है, मैं तो शैलेन्द्र डाकू को चाहती थी।"

मनुष्य, जीवन में ठोकर खाकर ही, सम्हलता है। वह कुछ खोकर ही सीखता है। मागन्धी ने देखा—'ओह, जिसके लिए मैंने अपना सब छोड़ दिया अपने वैभव पर ठोकर लगा दी, उसका ऐसा आचरण।' इस चिन्तन के परिणाम स्वरूप प्रतिहिंसा और पश्चात्ताप से उसका सारा शरीर भस्म होने लगता है। पश्चात्ताप की आँच में तपकर उसका हृदय कंचन की भाँति शुद्ध हो जाता है और आत्म-दृष्टि निर्मल हो जाती है। वह अतीत जीवन की अवास्तविकता को पहिचानती हुई कहती है—"अपनी परिस्थिति को संयत न रखकर व्यर्थ महत्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख-लिप्सा ही में पड़ी—उसी का यह परिणाम है। स्त्री-सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आगए।"

हृदय और बुद्धि के निर्मल हो जाने पर जीवन की वास्तविक शान्ति और महत्व प्राप्ति अति सरल है। मागन्धी गौतम के वरदहस्त की शीतल छाया, हृदय की विशृङ्खलता और विडम्बना का त्याग करने पर, प्राप्त करती है जिससे उसके प्यासे हृदय की तृष्णा सच्चे रूप में मिट जाती है।

नाटक की प्रधान कथावस्तु से मागन्धी के चरित्र का कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है। किन्तु सामान्य नारी जीवन में रूप गौरव और वासना की प्रबल इच्छा से जो उतार चढ़ाव आते हैं उनका निदर्शन नाटककार ने उसके चरित्र में बड़ी मनोवैज्ञानिक पद्धति पर किया है। वासना प्रेरित जीवन की परिवर्तनशीलता और उसका चरमोत्कर्ष यथार्थ दृष्टि से चित्रित करते हुए आदर्श की ओर उसकी प्रेरणा बड़ी स्वाभाविक रीति से की गई है। नाटककार को मागन्धी के चरित्र निर्वाह में यथेष्ट सफलता मिली है, यह बात निस्सन्देह है।

मल्लिका

मल्लिका आदर्श स्त्री-पात्र है। पति-परायणता, स्नेह, करुणा, विश्वमैत्री, उदारता, आतिथ्य-सेवा आदि सभी आदर्श गुण उसके पावन चरित्र में वर्तमान हैं। उसके महिमामय व्यक्तित्व के सम्पर्क में आकर क्रूर, कुटिल उद्धत एवं वासना युक्त वृत्तियों के पात्र कलमष-विहीन हो मनुष्यत्व प्राप्त करते हैं। उसके समक्ष उद्धत और अभिमानी अजातशत्रु का 'हृदय नम्र होकर आप-ही आप प्रणाम करने को झुक रहा है।' कुटिल कोशल-नरेश प्रसेनजित् उससे बारम्बार क्षमा माँगकर अपने हृदय को संतोष प्रदान करता है; क्रूर-कर्म्मा विरुद्धक उस 'उदारता की मूर्ति' की कृपा से अपने प्राण बचाने का उपाय प्राप्त करता है। वासनायुक्त मागन्धी मल्लिका की सम्पूर्ण मनुष्यता में काल्पनिक देवत्व का साक्षात्कार कर कृतार्थ होती है।

मल्लिका की पति-परायणता व्यक्तिगत ऐहिक सुखों के विषय वासनायुक्त जीवन के संकीर्ण घेरे में आबद्ध नहीं है। वह अपने पति के स्वतंत्र व्यक्तित्व को शृङ्गारमंजूषा में बन्द करके नहीं रखती है। 'महान् हृदय को केवल विलास की मदिरा पिलाकर मोह लेना ही (उसका) कर्त्तव्य नहीं है।' वह स्वामी को कठोर कर्म में सोत्साह प्रेरित करती हुई पति परायणता के साथ अपनी लोकहित भावना को भी चरितार्थ करती है। मल्लिका का पति-प्रेम पति के बल-वीर्य की अनुभूति से ओतप्रोत है। उसे इसका मिथ्या गर्व नहीं, वरन् सुखद सन्तोष है। वह 'कठोर कर्मपथ में अपने स्वामी के पैर का कंटक भी·····नहीं होना चाहती। इसी से शक्तिमती जब उसे कोशलनरेश की कुटिलता अवगत कराकर बन्धुल को काशी से वापस

बुलाने का परामर्श देती है तो मल्लिका उसे स्पष्ट शब्दों में कहती है—'रानी ! बस करो। मैं प्राणनाथ को अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं करा सकती, और उनसे लौट आने का अनुरोध नहीं कर सकती। सेनापति का राजभक्त कुटुम्ब कभी विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा…।" मल्लिका की इस उक्ति से उसकी असीम राजभक्ति-भावना भी अभिव्यक्त होती है।

मल्लिका के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता अपने घोर अपकारियों के प्रति निरन्तर उपकार भावना है। प्रसेनजित् की कुटिलता तथा विरुद्धक की क्रूरता और विश्वासघात से वह 'सोहाग से वञ्चित' हो जाती है। किन्तु वह विश्वमैत्री के अनुरोध से न तो उनमें से किसी से द्वेष करती है और न उनसे उदासीन ही होती है। वह युद्ध में घायल प्रसेनजित् को अपने आश्रम में लाकर शुश्रूषा करती है, अजातशत्रु के हाथों से उसे बचाती है तथा विद्रोही-हृदय दीर्घकारायण को राजभक्ति के सत्पथ पर प्रेरित करती है। इसी प्रकार युद्ध में उदयन के हाथों घायल हुए विरुद्धक की चिकित्सा कर के वह उसे स्वस्थ करती है और उसके पिता प्रसेनजित् से उसे उसके अपराधों के लिए क्षमादान दिलाकर पुनः युवराज पद पर अधिष्ठित कराती है।

जिस प्रकार मल्लिका के हृदय में सुदृढ़ रूप से विश्व-मैत्री की भावना है उसी प्रकार वह घोर से घोर संकटकाल में अपना कर्त्तव्य विस्मृत नहीं करती है। पति के आकस्मिक वियोग के कारण 'नारी के हृदय में जो हाहाकार है उसे वह अनुभव करती है। शरीर की धमनियाँ खिंचने लगती हैं। जी रो उठता है,' तब भी वह कर्त्तव्य नहीं भूलती है। निमन्त्रित सारिपुत्र मौग्दलायन का आतिथ्य वह पूर्ण प्रकृतिस्थ भाव से करती है। वह व्यवहार रूप आतिथ्य धर्म का पालन यथावत् करती है। सुख और दुःख, तथा शत्रु और मित्र

में सदैव समदृष्टि रखना जीवन की बड़ी उच्च और आदर्श स्थिति है। मल्लिका को मनसा वाचा कर्मणा हम इसी आदर्श स्थिति पर सदैव प्रतिष्ठित पाते हैं। 'स्त्री-सुलभ, सौजन्य और समवेदना, कर्त्तव्य और धैर्य्य की शिक्षा' को वह व्यवहार क्षेत्र में अपने पुनीत आचरणों द्वारा सार्थकता प्रदान करती है। उसके जीवन की इसी महत्ता से प्रभावित हो कर सद्धर्म के सेनापति सारिपुत्र और आनन्द उसकी भूरि भूरि सराहना कर उससे कर्त्तव्य शिक्षा प्राप्त करते हैं।

मल्लिका के चरित्र में सद्वृत्तियों का चूड़ान्त निदर्शन है। वह अपने महान् गौरवशाली गुणों की गरिमा से सामान्य लौकिक जीवन के धरातल से बहुत ऊँची उठी प्रतीत होती है। जीवन की ऐसी एकाङ्गी आदर्श स्थिति साधारणतया काव्य-जगत में ही सम्भव है। सामान्य जगत में विरल होने से, वह अतिरञ्जित प्रतीत होता है। किन्तु जिस देशकाल में गौतम जैसे सर्वगुण-सम्पन्न महात्मा की स्थिति का इतिहास विश्रुत है उसमें मल्लिका सदृश पावन चरित्रशालिनी नारी की कल्पना भी यथार्थ है। देशकाल की दृष्टि से मल्लिका का चरित्र काल्पनिक होते हुए भी परम स्वाभाविक एवं सजीव है।

शक्तिमती (महामाया)

शक्तिमती, दासीपुत्री होकर भी, अपनी महत्वाकांक्षा एवं कूट कौशल द्वारा राजरानी पद प्राप्त करती है। उसके हृदय पर स्वाभिमान की गहरी छाप है। उसे महत्व पद से नीचे लाने वाला चाहे उसका पति ही क्यों न हो, उसके प्रति उसकी प्रतिशोध भावना प्रबल रूप से प्रज्वलित हो उठती है। उसका पति प्रसेनजित् उसे पदच्युत कर उसके पुत्र विरुद्धक को युवराज पद से अपदस्थ कर देता है। शक्तिमती 'स्त्रियों की सी रोदनशीला प्रकृति लेकर' "भाग्य के भरोसे" नहीं बैठती है। वह अपनी इच्छाशक्ति और पौरुष से महत्वाकांक्षा के प्रदीप्त अग्निकुण्ड में कूदने को प्रस्तुत होती है। वह अपने पुत्र को उत्तेजित कर कोशल नरेश के विरुद्ध विद्रोही कर देती है। विरुद्धक उसकी प्रेरणा से ही डाकू बनकर राज्य में अनेक अकाण्ड ताण्डव करता है। शक्तिमती, मल्लिका के हृदय में, राज्य के विरुद्ध द्वेष भावना जागृत कर उसके राजभक्त परिवार को भी विद्रोही बनाने का प्रयत्न करती है। इसी प्रकार दीर्घकारायण के हृदय में भी वह प्रतिहिंसक भावना प्रदीप्त करती है। किसी के मनोभावों को पहिचान कर उन्हें उकसाने की उसमें अपूर्व क्षमता है। राजकुमारी वाजिरा की प्राप्ति में असफलता तथा मातुलबध के कारण दीर्घकारायण के हृदय में तीव्र क्षोभ है। शक्तिमती उसके इस मनोभाव को अवगत कर उसे उत्तेजित और आन्दोलित करने के लिये उसके पास जाती है। मल्लिका की गम्भीर सात्विक प्रकृति के कारण शक्तिमती उसे अपनी ओर मिलाने में असफल होती है। दीर्घकारायण की भावनाओं को उत्तेजित कर उसे अपनी ओर उन्मुख तो वह अवश्य कर लेती

है किन्तु कारायण पर मल्लिका के व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव होने के कारण उसके द्वारा अभीष्ट सिद्धि में उसे सफलता नहीं मिलती है।

शक्तिमती में अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए निष्ठुर सङ्कल्प ही वरन् तदनुरूप आचरण करने की तत्परता भी है। उसका पुत्र विरुद्धक उसके प्रोत्साहन से प्रतिज्ञा करता है—"माँ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तेरे अपमान के मूल कारण इन शाक्यों का एक बार अवश्य संहार करूँगा और उनके रक्त में नहाकर, इस कोशल के सिंहासन पर बैठकर, तेरी बन्दना करूँगा।" शक्तिमती उसके सिर पर हाथ फेरती हुई कहती है—

'मेरे बच्चे, ऐसा ही हो।' यह उसकी पाशववृत्ति और बर्बरता का परिचायक है। दीर्घकारायण एक स्थल पर वार्तालाप के प्रसङ्ग में शक्तिमती से पूँछता है—'तब क्या करती? अपने स्वामी की हत्या करके अपना गौरव, अपनी विजय-घोषणा स्वयं सुनातीं?' शक्तिमती इसका तत्काल उत्तर देती है—"यदि पुरुष इन कामों को कर सकते है तो स्त्रियाँ क्यों न करें?" उसके इस कथन से उसके हृदय की निष्ठुरता प्रकट होती है। उसे यदि अवसर मिलता तो सम्भवतः वह अपने विचारों को कार्य्यरूप में परिणित भी करती।

असद् भावनाओं और आचरणों का पूर्ण और स्थायी साफल्य, आदर्श की दृष्टि से असम्भव है। शक्तिमती द्वेष और दुर्भावनाओं का प्रचार कर अपनी मनोकामना की पूर्ति चाहती है। उसे क्षणिक और आंशिक सफलता ही मिलती है। प्रसेनजित् केवल एक बार ही घायल होकर पराजित होता है। किन्तु शीघ्र ही वह अपनी शक्ति सङ्गठित कर अजात और विरुद्धक को पराजित कर महामाया की महत्वाकांक्षाओं पर अर्गला लगा देता है।

महामाया सिर तोड़ करके भी दीर्घकारायण और मल्लिका को अपनी ओर मिलाकर अन्तर्विद्रोह कराने में सफल नहीं होती ; वह हारकर मल्लिका के व्यक्तित्व की महत्ता के आगे सिर झुकाती है और उसकी शरण में जाकर खोए हुए पद और सम्मान को प्राप्त करती है।

पद्मावती

पद्मावती सरल बालिका, स्नेहमयी भगिनी और पतिव्रता पत्नी के रूप में नाटक में चित्रित है। पितृ-परिवार में वह भाई अजात की मङ्गल कामना से प्रेरित हो उसे सन्मार्ग का निर्देश करती है। वह सरल एवं स्नेहमय उपालंभ द्वारा बिम्बसार के मुर्झाए मन को मुकुलित करती है। वह लाड़ भरे शब्दों में बिम्बसार से कहती है—"पिता जी, मुझे बहुत दिनों से आपने कुछ नहीं दिया है, पौत्र होने के उपलक्ष में तो मुझे कुछ अभी दीजिए, नहीं तो मैं उपद्रव मचाकर इस कुटी को खोद डालूंगी।" आकुल हृदया माता को आश्वासन युक्त संदेश भेजकर उसकी चिन्ता निवारण का उपाय करती है। वह मगध परिवार की आदर्श बालिका है।

पद्मावती में सहिष्णुता और गंभीरता, स्त्री-सुलभ सौजन्य के साथ पूर्ण रूप से विद्यमान है। उसका भाई अजात कोमलता और सद्कर्म शिक्षा की अवहेलना करता है। छलना भी पद्मावती की आलोचना करती है और गृह-विद्रोह की आग लगाने का अभियोग उस पर लगाती है। किन्तु पद्मा उक्त अभियोग का प्रतिकार कटुता पूर्वक नहीं करती, वरन् स्वयं पितृ-गृह को त्याग कर वह अपने पति के यहाँ चली जाती है। व्यक्तिगत अपमान के विरुद्ध उसके हृदय में प्रतिहिंसा की भावना नहीं जाग्रत होती।

पतिव्रता स्त्री, पति के अकारण रुष्ट हो जाने पर भी उसका अमङ्गल नहीं चाहती। वह स्वामी की प्रत्येक इच्छा के आगे सविनय मस्तक झुका देती है। पद्मावती की पति-निष्ठा इसी प्रकार की है। मागन्धी के षड़यन्त्र के कारण उदयन पद्मावती पर अकारण संदेह करने लगता है और उससे असन्तुष्ट हो जाता है। पद्मावती

को स्वामी का असन्तोष सह्य नहीं है। वह अपनी मानसिक दशा का परिचय देती हुई कहती है—"स्वामी मुझसे असन्तुष्ट हैं। भला यह वेदना मुझसे कैसे सही जायगी। कई बार दासी गई; किन्तु वहाँ तेवर ही ऐसे हैं कि किसी को अनुनय-विनय करने का साहस ही नहीं होता। फिर भी कोई चिन्ता नहीं, राज-भक्त प्रजा को विद्रोही होने का भय ही क्यों हो।" पद्मावती के हृदय की निश्छलता ही उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। उसी की अभय छाया में वह संतोष और विश्रान्ति का अनुभव करती है।

उदयन, पद्मावती को खिड़की से, करुणानिधान गौतम का दर्शन करते हुए देखकर उस पर पापाचरण का आरोप करता है। उसका शंकाकुल हृदय उत्तेजित हो जाता है और वह पद्मावती की हत्या के लिए खड्ग प्रहार करने को प्रस्तुत हो जाता है। पद्मावती अत्यन्त शान्त भाव से अपने हृदय की विशुद्धता की घोषणा करती हुई स्वामी के समक्ष अति विनीत भाव से आत्मसमर्पण करती है। वह कहती है—"प्रभु! स्वामी! क्षमा हो! यह मूर्ति मेरी वासना का विष नहीं है, किन्तु अमृत है × × × × उन बुद्ध को मांस पिंडों की कभी आवश्यकता नहीं।" वह स्वामी को तलवार निकाले हुए देख कर भयभीत नहीं होती प्रत्युत अपने हृदय की निर्मलता को व्यक्त करती हुई वह उसके समक्ष नतमस्तक होती है। सती के तेज और सत्य के शासन के समक्ष उदयन की पशुता मूक हो जाती है। उसका खड्गयुक्त हाथ उठता ही नहीं। पति की इच्छापूर्ति में ही पद्मावती को सच्चा आत्म संतोष है चाहे उसके पति की इच्छा उसी की हत्या करने ही की क्यों न हो। अतः वह 'नसें चढ़ गई होंगी' कहती हुई उसी की बलि के लिए प्रस्तुत खड्गयुक्त हाथ को सीधा करती है। पद्मावती का यह कार्य्य उसके उत्कृष्ट आत्म त्याग और पति-परायणता का परिचायक है। उदयन को भी अपनी भूल विदित होने पर उसके आगे घुटने टेकने पड़ते हैं।

पद्मावती गौतम के करुणामय उपदेशों से प्रभावित है। वह उनके उपदेश भक्तिपूर्वक सुनती है और उनके अप्रतिम व्यक्तित्व की विशुद्ध हृदय से उपासना करती है। किन्तु उदयन को छोड़ कर नाटक का कोई पात्र उसके व्यक्तित्व के सीधे सम्पर्क से प्रभावित हो अपनी जीवन दिशा नहीं बदलता है। वह मल्लिका की भाँति विश्वमैत्री और करुणा के उपदेशों और आचरणों द्वारा असद्वृत्ति के पात्रों को सद्वृत्तियों की ओर प्रेरित नहीं करती है इसका कारण सम्भवतः राजमहलों में उसका वधू जीवन है। वह सर्वसाधारण के सम्पर्क मे परे है। वस्तुतः नाटककार ने उसके चरित्र में सहिष्णुता, कोमलता, पतिपरायणता आदि प्रदर्शित कर उसके व्यक्तित्व को परम श्रद्धास्पद बना दिया है।

जीवक और बसन्तक

जीवक मगध का राजवैद्य और बसन्तक कौशाम्बी नरेश उदयन की राजसभा का विदूषक है। जीवक गम्भीर स्वामिभक्त सेवक है। वह 'उच्छृङ्खल नवीन राजशक्ति का विरोधी होकर' अपने स्वामी बिम्बसार की सेवा में जाता है। वह सच्चे हृदय से ही बिम्बसार से कहता है—'यह जीवन अब आपही की सेवा के लिए उत्सर्ग है।' जीवक की इस त्यागमय तत्परता के मूल में स्वामी के मंगल की सच्ची भावना है। समुद्रदत्त और देवदत्त की दुर्नीति और कूटचालों को वह समझता है। देवदत्त को, दुर्नीति के लिए वह भरपेट निर्भयता पूर्वक फटकार भी चुका है। यथा—"संघभेद करके आपने नियम तोड़ा है; उसी तरह राष्ट्रभेद करके क्या देश का नाश करना चाहते हैं।" × × × तुम लोगों की यह कूट मंत्रणा अच्छी तरह समझ रहा हूँ। इसका परिणाम कदापि अच्छा नहीं। सावधान, मगध का अधःपतन दूर नहीं है।" अस्तु जीवक परिस्थितियों की पर्याप्त जानकारी के बाद दृढ़ निश्चय के साथ स्वामी के लिए कल्याण कार्य्य में प्रवृत्त होता है।

जीवक का प्रधान कार्य्य संदेशवाहक का है। वह मगध के समाचार कौशाम्बी और कोशल पहुँचाता है और इन स्थानों के समाचार बिम्बसार को देता है। कौशाम्बी की प्रथम यात्रा में तो वह वहाँ की जटिल परिस्थिति के कारण अपनी बात अच्छी तरह से किसी से कहने का अवसर ही नहीं पाता। वह स्वयं चकित हो जाता है। उदयन उसकी बात सुनकर अनसुनी कर जाते हैं। अन्त में बसन्तक ही उसकी शङ्का का समाधान करता है। वह वासवदत्ता का सन्देशा जीवक को देता है—"आर्य्यपुत्र की अवस्था आप देख

रहे हैं; उनके व्यवहार पर ध्यान न दीजिएगा। पद्मावती मेरी सहोदरा है, उसकी ओर से आप निश्चिन्त रहें।"

जीवक को इस प्रथम यात्रा-प्रसंग में कोशल में विशेष सफलता मिलती है। प्रसेनजित्, जीवक से मगध का समाचार प्राप्त कर बिम्बसार और वासवी की जीविका निर्वाह के लिए काशी का राजस्व उन्हीं को देने का आदेश देता है। जिस प्रकार जीवक मगध के समाचार कोशल और कौशाम्बी में बिना किसी अतिशयोक्ति के कहता है उसी प्रकार वह कोशल और कौशाम्बी की परिस्थितियों की सूचना भी बिना किसी दुराव या छिपाव के बिम्बसार को देता है। पद्मावती का संकट, विरुद्धक का विद्रोह, बन्धुल की हत्या, अजात का आक्रमण और प्रसेनजित् की पराजय आदि के समाचार वह अपने स्वामी से बिना ननुनच के बतला देता है। इसमें उसका उद्देश्य स्वामी को परिस्थिति का यथार्थ ज्ञान करा देना है। जीवक कौशाम्बी की अपनी द्वितीय यात्रा में मगध पर कोशल और कौशाम्बी के सम्मिलित आक्रमण का रहस्य अवगत करता है।

राजदूत का कार्य्य अत्यन्त उत्तरदायित्व का है। उसे परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर उसी के अनुसार व्यवहार करना पड़ता है तथा सम्वाद के आदान प्रदान में उसे अत्यन्त संयम, तत्पर बुद्धि और वाक्पटुता का आश्रय लेना पड़ता है, जिससे उसका अभीष्ट सिद्ध हो और स्वामी का अनिष्ट न हो। जीवक में दूतत्व के ये सब गुण वर्तमान हैं। कौशाम्बी की जटिल परिस्थिति का अनुभव कर वह अत्यन्त संयम से काम लेता है। कोशल में वह अपनी एक संक्षिप्त उक्ति में ही अपने स्वामी की दुरावस्था का चित्र खींच कर अपने अभीष्ट सिद्धि के लिए अनुकूल वातावरण पूर्णतया प्रस्तुत कर लेता है—'दयालुदेव, कोई नया समाचार नहीं है। अपमान की यन्त्रणा ही महादेवी वासवी को दुखित कर रही है, और कुछ नहीं।' जीवक

के इस कथन के सुनते ही प्रसेनजित् उसका मनोरथ पूरा कर देता है। यही है उसके दूतत्व की सफलता।

जीवक की भाँति वसन्तक भी राज सहचर है। किन्तु दोनों की प्रकृति में बड़ा अन्तर है। प्रथम जितना ही गम्भीर है दूसरा उतना ही हंसोड़ है। एक स्वामी के कार्य्य-साधन के लिए देश विदेश की धूल छानता फिरता है तो दूसरा घर बैठे ही अपने स्वामी की आलोचना करता है और उसकी हँसी उड़ाता है। वसन्तक जीवक से कहता है—"सुनो जी, मिथ्या आहार से पेट का अजीर्ण होता है और मिथ्या विहार से बुद्धि का। ××× "महराज ने एक नई दरिद्र कन्या से ब्याह कर लिया है, मिथ्या विहार करते-करते उन्हें बुद्धि का अजीर्ण होगया है।"

राज सहचर और विदूषक होने के कारण वसन्तक का प्रवेश अन्तःपुर में भी है। अतः वह अन्तःपुर के संदेशे बाहर पहुँचाने में बड़ा सहायक है। महादेवी वासवदत्ता और पद्मावती उसी के द्वारा जीवक के पास अपने संदेशे पहुँचाती हैं। नाटकीय कथावस्तु की दृष्टि से इन दोनों संदेशों को जीवक के पास पहुँचाने तक ही उसके चरित्र का मूल्य है। तृतीय अङ्क के छठवें दृश्य के अन्त में वसन्तक की एक स्वगतोक्ति द्वारा मागन्धी के जीवन में अन्तिम परिवर्तन की सूचना भी दी गई है।

नाटककार ने वसन्तक के चरित्र द्वारा हास्यविधान का प्रयास किया है। मेरे विचार से इसमें उसे यथेष्ट सफलता नहीं मिली। इसका प्रथम कारण तो यह है कि वसन्तक के हास्य-विनोद का आधार जीवक गम्भीर प्रकृति का मनुष्य है। वह उसके हास्य-विनोद में सहयोग नहीं देता है। वह उसकी हंसी की बातों को बहुधा सुनी अनसुनी करता हुआ अपने मतलब की बात उससे निकाल कर अपना पिण्ड छुड़ाता है। इस प्रकार

वसन्तक का एकाङ्गी हास्य अपना सम्पूर्ण प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाता है।

वसन्तक द्वारा हास्य विधान की असफलता का दूसरा कारण हास्योत्पादक व्यापार का सर्वथा अभाव है। वेतुके एवं व्यक्तिक्रमपूर्ण कथोपकथन के साथ हास्यविधान के लिए तदनुरूप व्यापार भी आपेक्षित है। किसी बात के कहने का तभी प्रभाव पड़ता है जब उसके अनुरूप कुछ आचरण भी हो।

हास्यविधान में असफलता का मूल कारण 'प्रसाद' की दार्शनिक चिन्तन-शीलता है। उन्होंने इसके विधान का प्रयास मानों प्राचीन संस्कृत नाटकों के विदूषकों की परम्परा के निर्वाह रूप में किया है। उनकी स्वतः इस ओर विशेष प्रवृत्ति नहीं प्रतीत होती है। सम्भवतः हास्य का व्यापक चित्रण नाटक के गम्भीर दार्शनिक वातावरण के विरुद्ध भी पड़ता। इस दृष्टि से यह त्रुटि मार्जनीय है।

जनमेजय

'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक का नायक जनमेजय है। वह क्षत्रिय राजवंश में उत्पन्न इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति है। उसके चरित्र में दृढ़ता, पराक्रम, धैर्य्य, संयम, उदारता, विनम्रता आदि विविध उदात्त गुणों का निदर्शन है। वह अपनी इन स्वभावज विशेषताओं के कारण नाटक का धीरोदात्त नायक है।

नाटक के आरम्भ में ही हमें उसकी विनम्रता, क्षमाशीलता, उदारता और सहिष्णुता का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। पाखण्डी काश्यप के प्रगल्भ आचरणों पर क्रुद्ध न होकर, जनमेजय उसे समुचित दक्षिणा द्वारा संतुष्ट रखने का प्रयत्न करता है। जनमेजय जिस मधुरता से ब्रह्मचारी उत्तङ्क का स्वागत अपनी राजसभा में करता है तथा वह जिस उत्कण्ठा से अपने गुरुकुल की बातें उत्तङ्क से पूछता है उसमें उसके हृदय की सरलता और प्रकृति की उदारता तथा सौजन्य व्यक्त होते हैं। जरुत्कार ऋषि की अज्ञानवश निरपराध हत्या हो जाने से उसका अन्तःकरण क्षोभ और ग्लानि से भर जाता है। वह ऋषि की वेदना को अनुभव करता हुआ स्वयं कातर भाव से कहता है—"अनर्थ होगया। हाय रे भाग्य! आए थे मृगया खेल कर हृदय बहलाने, यहाँ होगया ब्रह्महत्या का महा पातक! तपोनिधे! मेरा अपराध कैसे क्षमा होगा!" जनमेजय के इस निरपराध कृत्य के कारण यद्यपि ब्राह्मणमण्डल, आरण्यक, परिषद् के सभ्यगण, कर्मचारी आदि उसकी अवहेलना एवं उपेक्षा करते हैं किन्तु वह, राज्यशक्ति का अनुचित प्रयोग कर, किसी का प्रतिकार नहीं करता है, अपितु उक्त कार्य्य के दण्डविधान स्वरूप स्वयं ही अश्वमेध करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है।

जनमेजय में साहस और दृढ़ता है। वह प्रतिकूल परिस्थितियों से घबड़ाकर कर्त्तव्य-पथ से विमुख नहीं होता है। ब्राह्मणों के षड़यन्त्र से कुछ समय के लिए वह विचलित तो अवश्य होता है किन्तु उत्तङ्क की मन्त्रणा से शीघ्र ही कत्तव्य निर्धारित कर वह उसे पूरा करने के लिए कृत-संकल्प होता है—'अश्वमेध पीछे होगा, पहिले नागयज्ञ करूँगा।" इन यज्ञों के विधान से उसका पराक्रम भी प्रकट होता है।

नागों के विरुद्ध उसका द्वेष परम्परागत है। उसके पिता परीक्षित की हत्या नागों द्वारा हुई है। उसका स्मरण उसे सदैव रहता है। नाग परिणय करने वाली यादवी सरमा का तिरस्कार वह उसी द्वेष की प्रेरणा से करता है—'दस्यु महिला के लिए कोई आर्य्य न्यायाधिकरण में नहीं बुलाया जायगा।' × × × × 'चुप रहो! पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यों पर अपराध लगाने का कोई अधिकार नहीं है।' उसके इस कथन में जातीय अभिमान की भी झलक है।

नागों के दमन में जनमेजय जिस क्रूरता का निदर्शन करता है वह देशकाल और पात्र के अनुकूल है तथा परिस्थितिजन्य है। बर्बर नाग जाति दस्युवृत्ति ग्रहण कर हत्या और लूट आदि के द्वारा शान्त आर्य्य जनपदों को त्रस्त करती है। अतः नागों का कठोरता पूर्वक दमन करना राज्यधर्म के अनुसार सङ्गत है। क्रूर कर्मों की अवतारणा में भी जनमेजय का विवेक और उसके हृदय की स्निग्धता तथा कोमलता नितान्त कुण्ठित नहीं होते हैं। वह आस्तीक के प्रभावशाली व्यक्तित्व की मुक्तकण्ठ से सराहना करता है—"आश्चर्य कुमार! तुम्हारा मुखमण्डल तो बड़ा सरल है, फिर भी वह क्या कह रहा है। मैं किस लोक में हूँ?" वह आस्तीक का निवेदन बड़े ध्यान से सुनता है और अपने विवेक तथा न्याय बुद्धि का परिचय देते हुए वह उसके अनुरोध को स्वीकार करता है।

जनमेजय, आस्तीक की प्रार्थना को न्यायसङ्गत मान कर आज्ञा देता है—'छोड़ दो तक्षक को।'

जनमेजय केवल सैनिक या न्यायविधान करने वाला राजा ही नहीं है। सौन्दर्य्य और सुषमा से प्रभावित हो उसके प्रति आकृष्ट होने की सहज प्रवृत्ति भी उसमें है। नागकन्या मणिमाला के प्रति उसका आकर्षण उसके नैसर्गिक सौन्दर्य तथा अपूर्व सरलता के कारण है। प्रथम साक्षात्कार के अवसर पर शत्रु-कन्या होने के कारण वह उसका आतिथ्य तो नहीं ग्रहण करता किन्तु वह उसके सौन्दर्यपूर्ण सरल व्यक्तित्व से इतना प्रभावित होता है कि उसके सामने ही वह हठात् स्वीकार करता है—"मैं तो तुम सी नागकुमारी की प्रजा होना भी अच्छा समझता हूँ।" शत्रु-कन्या के समक्ष आत्मसमर्पण के इस भाव में जनमेजय के हृदय की निश्छलता और गुणग्राहकता प्रकट होती है। नाटक के अन्त में वह, सरमा के अनुरोध तथा अपनी परिणीता भार्य्या वपुष्टमा की स्वीकृति से, मणिमाला को पत्नी रूप में स्वीकार करता है। राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इस सम्बन्ध का परिणाम उभय पक्ष के लिए मङ्गलकारी है। नाग जाति और आर्य्य जाति इस सम्बन्ध के द्वारा राजनीतिक एकता के सूत्र में ही नहीं बँध जाती है, वरन् दोनों जातियाँ परस्पर सांस्कृतिक आदान प्रदान से एक दूसरे में सदा के लिए घुलमिल जाती हैं।

जनमेजय के चरित्र में एक त्रुटि खटकने वाली है। वह है उसकी भाग्यवादिता। जनमेजय शक्तिशाली सम्राट् होकर भी नियति और प्रकृति के फेर में पड़ा प्रायः किंकर्त्तव्यविमूढ़ प्रतीत होता है। कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है कि वह सब कुछ करते हुये भी मानो स्वयं कुछ नहीं कर रहा है। 'प्रसाद' जी ने अपने नियतिवाद की ऐसी गहरी छाप उसके चरित्र पर लगा दी है कि

वह समय समय पर 'मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है' मन्त्रवत् जपा करता है और व्यास तथा उत्तङ्क की प्रेरणा से ही वह कर्म्मक्षेत्र में आता है। नियति पर अन्धविश्वास के कारण उसका व्यक्तित्व कुछ धुँधला पड़ गया है। पात्रों का व्यक्तित्व निजी और स्पष्ट होना चाहिए। उन पर नाटककार के स्वकीय सिद्धान्तों का आरोप अवांछित है।

तक्षक

नागराज तक्षक का चरित्र-चित्रण नायक के प्रतिपक्ष रूप में बड़ी सजीवता के साथ हुआ है। जातीय अपमान की ज्वाला से उसका सन्तप्त हृदय प्रतिहिंसा से निरन्तर प्रेरित रहता है। वह इसी की प्रेरणा से जीवन में अनेक अकाण्ड ताण्डव करता है। उसके अन्तःकरण की मूल प्रवृत्तियों का परिचय उसके नाटक में प्रवेश करते ही हमें मिलता है। वह स्वगतोक्ति द्वारा अपने मनोभावों को व्यक्त करता है—"प्रतिहिंसे ! तू बलि चाहती है, तो ले, मैं दूंगा ! छल, प्रवञ्चना, कपट, अत्याचार सब तेरे सहायक होंगे। हाहाकार क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियाँ बनेंगी।" तक्षक का समस्त जीवन इन्हीं भावों की यथार्थ अभिव्यक्ति है। वह उत्तङ्क की कपटपूर्ण क्रूर हत्या करना चाहता है। रानी वपुष्टमा का, वह अत्याचार द्वारा, अपहरण करने का उद्योग करता है। नागों को सङ्गठित कर दस्युकर्म द्वारा आर्य्य जनपदों में, वह हत्या और लूट आदि कार्यों से, आतङ्क उत्पन्न कर देता है।

तक्षक अपने विचारों को कार्य्यरूप में परिणित करने के लिए यथेष्ट कुशल है। वह प्रलोभन द्वारा काश्यप को अपनी ओर मिलाकर राजकुल की अनेक रहस्यपूर्ण बातें जान लेता है। दामिनी को अपने यहाँ आश्रय देकर वह, उत्तङ्क के कार्य्यों का प्रतिकार करने का अच्छा साधन प्राप्त करता है। वह ब्राह्मणों में भेद बुद्धि पैदा कर उन्हें भी अपनी ओर फोड़ लेने की सफल चेष्टा करता है।

मनुष्य स्वयं जिन विचारों का हामी होता है वह उसी प्रकार के विचार वाले व्यक्तियों का सम्बन्ध स्वीकार करता है। उसे अपने पराये का भी भेद इसमें मान्य नहीं होता है। तक्षक इसी कोटि का है। वह सरमा को अपने विचारों और कार्य्यों का विरोध करने के कारण ठुकरा देता है और उसकी हत्या तक करने को प्रस्तुत हो जाता है। तक्षक अपनी कन्या मणिमाला के प्रति स्नेह रखते हुए भी उसकी उपेक्षा ही करता है। उसकी प्रार्थनाओं की ओर वह कान नहीं देता है। आस्तीक के महान् व्यक्तित्व के प्रति उसकी कोई आस्था नहीं है। वह अपने विचारों के अनुकूल व्यक्तियों के प्रति ही ममत्व रखता है। मनसा और वासुकी के प्रति उसकी सच्ची श्रद्धा और आस्था है। ये लोग उसके मूल विचारों के समर्थक है अतः वह उनका प्रतिरोध भी स्वीकार करता है। सरमा की हत्या की चेष्टा में एक बार मनसा बीच में आकर उसे रोकती है और दूसरी बार वासुकि उसका प्रतिरोध करता है।

तक्षक में अपने विचारों के अनुरूप कार्य करने की दृढ़ता और साहस भी है। वह यज्ञ के घोड़े को बलपूर्वक पकड़वा लेता है और उसके परिणामरूप युद्ध में साहसपूर्वक शत्रुओं का सामना करता है। बन्दी होकर भी वह जनमेजय के समक्ष प्राणभिक्षा नहीं मांगता है और न उसकी आधीनता ही स्वीकार करता है। वह निर्भीकतापूर्वक जनमेजय के समक्ष ही उसकी आलोचना करता है—"क्षत्रिय सम्राट् तुम क्रूरता मे किसी से भी कम नहीं हो।"

नाटककार ने तक्षक के चरित्र में वास्तविकता की पूर्ण रक्षा की है। उसके चरित्र पर उनके आदर्शों का कृत्रिम आवरण नहीं है। उसका चरित्र निस्सन्देह अत्यन्त सजीव और प्रभावपूर्ण है।

उत्तंक

ब्रह्मचारी उत्तङ्क का जीवन दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग में उसका छात्र जीवन है तथा दूसरा विद्याध्ययन के पश्चात् संसार में प्रवेश करने से प्रारम्भ होता है। छात्र जीवन में उत्तङ्क अपने युग के ब्रह्मचारी छात्रों के समान आदर्श चरित्रवान् है। अध्ययन में वह 'दार्शनिक प्रतिज्ञाएँ अपने सहपाठियों से भी विशेष शीघ्र समझता है। वह सांसारिक प्रलोभनों से भी सदैव दूर रहता है। गुरुपत्नी दामिनी अपनी कामवासना का नग्न चित्र उसके समक्ष रखती है। किन्तु वह आत्मसंयम द्वारा उससे सदैव दूर ही रहता है। वह गुरुदक्षिणा, अपने प्राणों की बाजी लगाकर, अदा करता है। जनमेजय की सभा में वह जिस निर्भीकता और विनम्रता के साथ रानी के मणिकुण्डलों के लिए प्रार्थना करता है वह उसके साहस और सौजन्य का परिचायक है। उत्तङ्क को अपना 'सरल छात्र जीवन' अति प्रिय है और इसका निर्वाह वह आदर्श रूप में करता है।

उत्तङ्क अपने सांसारिक जीवन में चाणक्य के समान दृढ़-प्रतिज्ञ, कठोर एवं कुशल है। नाटक की प्रमुख घटना—नाग यज्ञ—उसकी ही प्रेरणा से प्रादुर्भूत होती है। उसके विधान में उत्तङ्क की कठोर कर्म भावना, और कर्त्तव्य दृढ़ता व्यक्त होती है। एक बार कुटिल नाग जाति के विनाश के लिए जब वह नागयज्ञ करना निश्चित कर लेता है तब बड़ी कठिनता से ही वह उससे विरत होता है। ब्राह्मणों द्वारा इस हिंसा मूलक यज्ञ का बहिष्कार किए जाने पर भी उत्तङ्क उससे पश्चात्पद नहीं होता है। वेद के

विरोध करने पर भी वह उनसे कहता है—"भगवन् य हतो मेर कर्त्तव्य है। कृपया इसमें बाधा न दीजिए।"

नागयज्ञ के विधान में उत्तङ्क जो प्रेरणा एवं सहयोग देता है उसमें नाग जाति के विरुद्ध उसकी व्यक्तिगत विरोध भावना के अतिरिक्त समष्टि की कल्याण भावना भी सुनिहित है। रानी वपुष्टमा जब उससे पूछती है—"यह सब करने पर भी क्या होगा ?" तब उत्तङ्क इस यज्ञ का लोक मङ्गलकारी स्वरूप प्रकट करते हुए उसे बताता है—'राष्ट्र तथा समाज के शासन को दृढ़ करना ही इसका एक मात्र उद्देश्य है।" लोकपीड़क नागों के दमन द्वारा ही राष्ट्र और समाज की दृढ़ता और उसका मङ्गल सम्भव है। अतः उसका उक्त कार्य्य हिंसा मूलक होते हुए भी समीचीन है।

उत्तङ्क के स्वभाव में निर्भीकता, साहस, दृढ़ता और कर्त्तव्य-निष्ठा पूर्णरूप से विद्यमान है। मणिकुण्डल प्राप्त करना दुस्साध्य कार्य्य है। किन्तु वह उसके लिए सहर्ष तैय्यार हो जाता है। यह उसकी कर्त्तव्य-निष्ठा का प्रबल प्रमाण है। जनमेजय के यहां से मणिकुण्डल लेकर आते हुए तक्षक मार्ग में उसे बलपूर्वक छीन लेने का प्रयत्न करता है। वह उत्तङ्क का वध करने के लिए छुरी निकाले हुए उसके सामने खड़ा है किन्तु वह भयभीत नहीं होता है। वह तक्षक को अपने आत्मबल और ब्रह्मबल के आधार ललकारता है—"यदि ब्राह्मण हूँगा, यदि मेरा ब्रह्मचर्य्य और स्वाध्याय सत्य होगा तो तेरा कुत्सित हाथ चल ही न सकेगा। हत्याकारी दस्यु को यह अधिकार ही नहीं कि वह ब्रह्मतेज पर हाथ चला सके। पाखण्डी तेरा पतन समीप है।" उत्तङ्क कोरी धमकी देने वाला ही नहीं है। वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहता है और अपने उत्साहपूर्ण वचनों से वह जनमेजय को किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता के गर्त से बाहर निकालता है। अन्त में नागयज्ञ के विधान द्वारा वह अपना प्रतिशोध पूर्णतया लेता है।

भावावेष में किसी व्यापार का अतिवाद श्रेयस्कर नहीं है। वह हृदय की दुर्बलता का द्योतक है। उत्तङ्क नागयज्ञ के विधान में हृदय की उत्तेजना से प्रवृत्त होता है। इस कार्य्य में उसकी दृढ़ता एवं कुशलता चाहे भले ही व्यक्त होते हों किन्तु पुनीत मानवता की दृष्टि से वह गिर जाता है। दामिनी उसे इसी का संकेत करती है—"हृदय है। तब तो तुम उसकी दुर्बलता से और भी भली भाँति परिचित होगे। × × × × हृदय के अतिवाद से वशीभूत होने का मुझसे बढ़कर कोई उदाहरण न मिलेगा।" बुद्धिमान पुरुष के लिए संकेत ही पर्य्याप्त है। दामिनी के उक्त कथन से उत्तङ्क का सोया हुआ विवेक जाग्रत होता है और वह उस क्रूर हिंसापूर्ण कार्य्य से प्रथक हो जाता है।

उत्तङ्क के चरित्र का विकास परिस्थितिजन्य मानव मनोवृत्तियों पर आश्रित है। उसमें जीवन का उत्थान और पतन चित्तवृत्ति के ऊँचे और नीचे होने के साथ है। अतः उसमें पूर्ण स्वाभाविकता है। उत्तङ्क के जीवन चरित्र से यह भी प्रकट होता है कि मनुष्य का एक ही कार्य्य किसी एक दृष्टिकोण से समीचीन होने पर भी व्यापक दृष्टि से सर्वथा स्तुत्य नहीं होता। नागयज्ञ के विधान में लोकमङ्गल का भाव चाहे भले ही निहित हो किन्तु शाश्वत मानवता की दृष्टि से वह श्लाघ्य नहीं है। नाटककार ने उत्तङ्क के चरित्र चित्रण में स्वाभाविकता का निर्वाह करते हुए आदर्श की प्रतिष्ठा प्रकृत रूप में की है और इसमें उसे यथेष्ट सफलता भी मिली है।

काश्यप

काश्यप राज—पुरोहित है। वह एक समादरणीय पद पर प्रतिष्ठित होने पर भी उसके उपयुक्त सिद्ध नहीं होता है। संतोष वृत्ति का उसमें सर्वथा अभाव है। ब्राह्मणोचित अन्य गुण यथा प्रेम, सद्भाव, विश्व-कल्याण भावना आदि भी उसमें नहीं है। काश्यप के पतन और विनाश के मूल में प्रधान रूप से उसकी असंतोष वृत्ति है। काश्यप विकट अर्थलोभी है। अर्थलिप्सा के वशीभूत होकर वह नीच से नीच कार्य्य करता है। वह ब्राह्मणों को जनमेजय के विरुद्ध भड़काता है। इसमें उसका अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणों के विद्रोह करने से जनमेजय अश्वमेध-यज्ञ करने के लिए बाध्य हो और उसे उस यज्ञ के विधान में लम्बी दक्षिणा मिले। लोभ की सहचर मनोवृत्ति ईर्षा भी कश्यप में है। जनमेजय उत्तङ्क को मणिकुण्डल देता है। उत्तङ्क को इतनी बहुमूल्य वस्तु प्राप्त करते देख उसे ईर्षा होती है और उन कुण्डलों के प्रति उसका लोभ सजग होता है। वह तक्षक के पास जाकर उसके द्वारा उत्तङ्क से मणिकुण्डल छिनवाने का प्रयत्न करता है। काश्यप को, धन, अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा है। प्राणसंकट प्रत्यक्ष देखकर भी वह प्राणों की उतनी चिन्ता नहीं करता है जितना अपने धन की। कानन में तक्षक आदि के साथ मन्त्रणा करते हुए जब वह जनमेजय की सेना द्वारा घिर जाता है तब वहाँ से भागते समय वह अपने धन के मोह में बुरी तरह फंसा दिखाई पड़ता है। वह कहता है—"हाय रे! यहाँ मेरा बड़ा धन है।"

काश्यप कुटिल और दुर्विनीत है। वह अपने महत्व के मिथ्या दम्भ के कारण विद्वान और गुणियों की उपेक्षा करता

है। वह उनके प्रति बड़े अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करता है। उत्तङ्क का वह अकारण ही अनादर करने की चेष्टा करता है, तथा साथ ही उसके विद्वान् गुरु वेद पर भी भद्दे आक्षेप करता है।

जननेजय की सभा में उत्तङ्क से वह कहता है—'जैसा गुरु है वैसे ही तुम भी हो। न बोलने की पद्धति, न विधि विहित शिष्टाचार। क्या वेद ने तुम्हे यही पढ़ाया है।' इसी प्रकार विद्वान कर्मकाण्डी एवं निस्पृह याज्ञिक तुर कावषेय के लिए भी वह बड़े अपमानयुक्त वचनों का प्रयोग करता है। वह तुर से कहता है—"मैं कौरवों का कर्मकाण्ड कराते कराते बुड्ढा होगया किन्तु तुम्हारे समान लफङ्गा इस राजसभा में आजतक न देखा।"

काश्यप आदर्श और सिद्धान्तहीन व्यक्ति है। प्रचुर दक्षिणा प्राप्ति की आशा से वह प्रकट रूप में जनमेजय से आकर मिलता है और ऐन्द्राभिषेक की सम्पूर्ण दक्षिणा स्वयं डकार जाता है। बाद में जब वह तक्षक से जा मिलता है तो शौनक उसके स्थान पर पुरोहित नियुक्त किया जाता है। काश्यप इसी बात से जनमेजय से रुष्ट होकर उसका सर्वत्र विरोध करने लगता है तथा वह उसकी स्त्री के अपहरण का षड़यन्त्र रचवाता है। जनमेजय से बदला लेने के लिए वह तक्षक से मिल जरूर जाता है किन्तु तक्षक के प्रति भी उसका भाव सर्वथा निश्छल और कपटहीन नहीं है। तक्षक की चेतावनी की उपेक्षा करता हुआ वह उसकी पीठ पीछे कहता है—'मरो कटो मुझे क्या! घात चल गई तो हँसूगा, नहीं तो कोई कोई चिन्ता नहीं।"

काश्यप प्रकृतिसिद्ध नीच मनोवृत्तियों का है। अतः कर्भा भी उसके हृदय में सात्विक भाव का उदय नहीं है और न कपटाचरण और क्रूर व्यवहार करते हुए या करने के पश्चात् उसे आत्मग्लानि

की अनुभूति ही होती है। अतः उसे इस संसार में कुछ अर्थलाभ होने के अतिरिक्त और किसी अन्य वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है। वह मानवता के स्तर से क्रमशः गिरता ही जाता है। अन्त में वपुष्टमा के अपहरणकाल में एक नाग द्वारा उसकी हत्या होती है जो आदर्शवादी दृष्टिकोण सर्वथा सङ्गत है। लोकादर्शों की रक्षा के लिए ऐसी पापात्माओं का यह परिणाम परमावश्यक एवं उपादेय है।

आस्तीक

आस्तीक के पिता जरुत्कार ऋषि तथा माता नागकन्या मनसा है। इस प्रकार उसके शरीर में आर्य और नागरक्त का मिश्रण है। किन्तु उसके हृदय में किसी एक के लिए पक्षपात तथा दूसरे के प्रति द्वेष नहीं है। आर्य्य ऋषियों के ही समान वह शान्त, स्निग्ध एवं विश्व-कल्याण का इच्छुक है। उसमें नागों की सी क्रूरता या कुटिलता नहीं है। आस्तीक अपनी विवेकपूर्ण निर्मल बुद्धि द्वारा आर्य्यों और नागों के पारस्परिक संघर्ष भाव को अवगत कर लेता है और दोनों में मेल कराना ही अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है। वह माणवक से कहता है—"किन्तु भाई हमलोगों का कुछ कर्त्तव्य भी है। दो भयङ्कर जातियाँ क्रोध से फुफकार रही हैं। उनमें शान्ति स्थापित करने का हमने बीड़ा उठाया है।"

आस्तीक जीवन के प्रारम्भ में ही दार्शनिक बुद्धि सम्पन्न हो जाता है। वह मणिमाला से कहता है—"क्यों मणि यह सब क्या है? इसका कुछ तात्पर्य्य भी है या केवल कुहुक है?" उसकी इस दार्शनिक बुद्धि के मूल में सत्शिक्षा एवं शैशवकाल में ही पिता और माता की स्नेह छाया से उसका सर्वथा बञ्चित हो जाना है। उसके पिता जरुत्कार ऋषि की जनमेजय द्वारा आखेट में धोखे से हत्या हो जाती है तथा उसकी माता मनसा भी उसे त्याज्य पुत्र घोषित कर देती है। अतः विश्व की जटिलताओं का प्रत्यक्षीकरण उसे बाल्यजीवन में ही हो जाने के कारण उसके हृदय में सात्विक बुद्धि और विवेक का स्फुरण हो जाता है। वह मणिमाला से कहता है—"रोना और हँसना ये ही तो मानवी सभ्यता के आधार

हैं। आज मेरी समझ में यह बात आगई कि इन्हीं के साधन मनुष्य की उन्नति के लक्षण कहे जाते हैं।"

आस्तीक विश्वमञ्च पर महान् उद्देश्य और आदर्शों को लेकर अवतरित होता है। उसके मार्ग में अनेकानेक कठिनाइयाँ हैं किन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उसमें अपने उद्देश्य को प्राप्त करने की दृढ़ता है। उसका कोई भी सजातीय उसे सहायता देने वाला नहीं है। नागों की हिंसक वृत्ति के शमन करने के प्रयास में उसकी माता ही उसका विरोध करती है और उसकी कठोर भर्त्सना कर उसे त्याग देती है। आस्तीक कर्मवीर है। वह अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता है तथा एक बार विचलित होने पर भी वह माता के सामने ही प्रतिज्ञा करता है—"तलवार लेकर तो नहीं पर यदि हो सका तो मैं दूसरे प्रकार से यह विवाद मिटाऊँगा। इस क्रोध की बाढ़ में मैं बाँध बनूँगा, चाहे फिर मैं ही क्यों न तोड़कर बहा दिया जाऊँ।" आस्तीक का यह कथन कोरा प्रलाप नहीं है, वरन् उसमें आत्मविश्वास, दृढ़ता, और निर्भीकता की स्पष्ट झलक विद्यमान है।

सुशिक्षा के प्रभाव से आस्तीक शीलवान है। उसकी माता यद्यपि अपने प्रमाद से ही उसे अपना त्याज्य पुत्र घोषित कर उससे सम्बन्ध विच्छेद करती है किन्तु आस्तीक की मातृभक्ति में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। वह शीलवश अपनी माता को दोषी नहीं मानता है वरन् उसके रोष के मूल में अपना ही अपराध देखता है। व्यास के समक्ष इसी की प्रेरणा से वह आत्मग्लानि व्यक्त करता है—"भगवन्! मैं मातृ-द्रोही होगया हूँ। मैंने माता की आज्ञा नहीं मानी। मेरे सिरपर यह एक भारी अपराध है।" व्यास के सदुपदेशों से उसकी ग्लानि दूर होती है।

आस्तीक एक सच्चा कृती पुरुष है। व्यास के कथनानुसार उसका 'प्रादुर्भाव किसी विशेष कार्य्य के लिए हुआ है।' वह

अवसर प्राप्त होने पर उस महत्वपूर्ण कार्य्य को सम्पादित करता है। नागयज्ञ के विधान में तत्पर जनमेजय की प्रतिहिंसाग्नि को शमन करने की शक्ति आस्तीक के अतिरिक्त किसी अन्य में नहीं है। जनमेजय, उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उससे कहता है—"आश्चर्य ! कुमार ! तुम्हारा मुखमंडल तो बड़ा सरल है; फिर भी वह क्या कह रहा है। मैं किस लोक में हूँ ?" जनमेजय उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हो उसे अपना रक्त तक देने को उद्यत हो जाता है। आस्तीक के समक्ष जनमेजय उसके पिता की हत्या का अपराध स्वीकार करता है। इस प्रकार वह अपनी निर्भीकता एवं वाक्पटुता से राजा की प्रतिहिंसा से उत्तेजित आत्मा को प्रकृतिस्थ करता है। वह प्रतिकार के रूप में राजा से आत्मसुख की कोई वस्तु नहीं चाहता। आस्तीक दो जातियों में शान्ति का ही अभिलाषी है, अतः वह सम्राट् से कहता है—"मुझे दो जातियों में शान्ति चाहिए। सम्राट् शान्ति की घोषणा करके बन्दी नागराज को छोड़ दीजिए। यही मेरे लिए यथेष्ट प्रतिफल है।" आस्तीक के अनुरोध से नागयज्ञ समाप्त होता है और मनसा के समक्ष की हुई उसकी प्रतिज्ञा पूरी होती है। आस्तीक के व्यक्तित्व की सराहना भगवान् बादरायण भी मुक्तकण्ठ से करते है—"धन्य है क्षमाशील ब्रह्मवीर्य्य ! ऋषि कुमार, तुम्हारे पिता को धन्य है।" निस्सन्देह आस्तीक सदृश लोकपावन चरित्रवाली सन्तानों से उनके माता पिता गौरवान्वित होते हैं।

वासुकि

वासुकि, नागकुल अभिजात होने पर भी, नागों के समान स्वभावतः कुटिल, क्रूर और हिंसाप्रिय नहीं है। वह नागों और आर्य्यों में मेल कराने का पक्षपाती है और उसके लिए चेष्टा करता है। वह आस्तीक के समान शान्ति का अस्त्र लिए सर्वत्र विचरण तो नहीं करता किन्तु फिर भी उसके आचरणों में मर्य्यादा का भाव और संयम है। वह केवल जातीयता की भावना से प्रेरित होकर नागराज तक्षक का सहकारी है किन्तु फिर भी वह उसकी अकारण क्रूरताओं और कपटाचरणों में उसका साथ नहीं देता है।

वासुकि में विवेक और मनुष्यता है। वह निरीह और निरपराध व्यक्तियों की विश्वासघातयुक्त हत्या का समर्थन नहीं करता तक्षक, जब उत्तंक और सरमा पर प्रहार कर उनका अन्त करने को उद्यत होता है तब वासुकि ही बीच में पड़कर उनकी रक्षा करता है। वह तक्षक से कहता है—"नागराज! सरमा और उत्तंक मुक्त हैं। वे जहाँ चाहें, जा सकते हैं।" वासुकि के इस कथन से उसके व्यक्तित्व की स्वतंत्रता भी प्रकट होती है।

वासुकि में जातीय गौरव और स्वामिभक्ति की भावना पूर्णरूप से विद्यमान है। वह अपने नायक का पराभव और जाति की दुर्दशा सहन नहीं कर सकता। वह साहसी और दृढ़ स्वभाव वाला है। तक्षक और मणिमाला के बन्दी हो जाने पर वह घोषणा करता है—"चलो वीरो! जो लोग युद्ध के योग्य हैं वे सब एक बार निर्वाणोन्मुख दीप की भाँति जल उठे। यदि औरों को जला न सकेंगे तो स्वयं ही जल जाँयगे।" वह 'मरण के डर से कलंकित जीवन बचाने का दुस्साहस' करना असम्भव मानता है। उसमें

वीरोचित उत्साह और जातीय जीवन की रक्षा के लिए आत्मत्याग की आदर्श भावना निर्विवाद रूप से वर्तमान है।

वासुकि के लिए सरमा के साथ दाम्पत्यजीवन निर्वाह एक समस्या है। दोनों ही परस्पर जीवन सहचर होते हुए परस्पर जीवन मार्ग में भिन्न हैं। सरमा नागों की क्रूरता और कुटिलता के कारण उनसे दूर भागती फिरती है। वासुकि जातीय प्रेम से सदैव अनुप्राणित है और वह उसके लिए आत्मोत्सर्ग के लिए भी सदैव प्रस्तुत रहता है। सरमा और वासुकि के दृष्टिकोण में परस्पर विभिन्नता होते हुए भी, अनुरागभाव दोनों में है। सरमा यदि प्रभास के विप्लव में वासुकि पर मुग्ध होकर अपनी इच्छा से चली आई तो वासुकि भी उसके जीवन और सम्मान की रक्षा के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। वह तक्षक के हाथों से सरमा की हत्या नहीं होने देता है तथा सरमा के सम्मान रक्षा के लिए वह प्रतिश्रुत होता है। सरमा के साथ अनुकूल दाम्पत्यजीवन निर्वाह का श्रेय वासुकि को ही है। वासुकि नागों के संपर्क में रहकर भी अपना चरित्र गिरने नहीं देता है और उसका व्यक्तित्व समष्टिरूप में सराहनीय है।

माणवक

माणवक एक कल्पित पात्र है। नाटक की प्रधान घटनाओं एवं प्रमुख पात्रों से उसका विशेष सम्पर्क नहीं है। नाटककार ने इसके चरित्र में एक तिरस्कृता नारी के आश्रय विहीन पुत्र का दयनीय चित्र अंकित किया है।

माणवक के चरित्र का विकास, जीवन की अंधकार पूर्ण परिस्थितियों में होता है। उसकी माता सरमा का पतिगृह में तिरस्कार होता है अतः वह भी अपनी माता के साथ ही अपने पिता के वैभव को ठुकरा कर चला आता है। आर्य्यजनपद में भूख लगने पर यज्ञशाला का घी खाने के अपराध में उस पर मार पड़ती है। न्यायालय में उसकी सुनवाई भी नहीं होती है। उसकी माता को नागपरिणय के कारण वहाँ भी अपमानित होना पड़ता है। माणवक का हृदय क्षोभयुक्त होकर विद्रोही हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में उसके मानस में प्रतिहिंसा का स्फुरण होना स्वाभाविक है। वह अपनी माता से कहता है—"मुझे आज्ञा दो। मैं मनसा के हाथों का विषाक्त अस्त्र बनूँ; उसकी भीषण कामना का पुरोहित बनूँ। क्रूरता का ताण्डव किए बिना न जी सकूँगा।"

माणवक अपनी माता का अनन्यभक्त है। वह जिस प्रकार उसके साथ अपने पिता का वैभव सुख छोड़कर पेट की ज्वाला सहता हुआ तथा दर दर की ठोकरें खाता हुआ घूमता है उसी प्रकार वह माता की प्रत्येक आज्ञा के सामने सिर झुका कर उनका आजीवन पालन करता है। वह माता की इच्छा और आदेश के सामने अपने व्यक्तिगत विचारों का बलिदान करता है। सरमा उसकी प्रतिहिंसक

मनोवृत्ति को प्रोत्साहित नहीं करती है। वह माणवक की प्रतिहिंसक मनोवृत्ति का विरोध करती हुई उसे समझाती है—"हत्या ! तू सरमा का पुत्र होकर गुप्त रूप से हत्या करना चाहता है; पर मैं यह कलंक नहीं सह सकती।" माणवक के जीवन में अनेक अवसर आते हैं जब वह अपने विचारों को कार्य्य रूप में परिणित कर सकता, किन्तु उसकी माता के उपर्युक्त शब्द मानों उसके कर्ण कुहरों में सदैव गूँजते रहते हैं और वह अपने मनोवेगों को दबा देता है। दामिनी उससे तक्षक के पास चलकर जनमेजय आदि के विरुद्ध अपना प्रतिशोध लेने के लिए उत्तेजित करती है। माणवक के हृदय में द्वन्द्व छिड़ता है। प्रतिशोध का भाव उसके हृदय में है। वह संसार का एक ऐसा तिरस्कृत और उपेक्षित प्राणी है जो सर्वत्र ठोकरें खाता फिरता है। किन्तु वह फिर भी दामिनी का साथ नहीं देता है और उसे भी उस पथ पर अग्रसर होने से रोकता है। रानी वपुष्टमा के अपहरण के समय वह उपस्थित है। वह चाहता तो उसे पकड़ कर नागों के हाथ सौंप देता। किन्तु उसने अपनी माता के सदुपदेशों से यह अनुभव कर लिया है कि "क्षमा से बढ़कर और किसी बात में पाप को पुण्य बनाने की शक्ति नहीं है।" अतः वह मां की आज्ञा नहीं टालता और अपनी जान पर खेल कर नागों के चंगुल से वपुष्टमा को बचाता है। वह उसे व्यास के निरापद आश्रम में लेजाकर उसके जीवन और सतीत्व की रक्षा करता है। माणवक की मातृ-भक्ति अटल है। उसका समस्त जीवन उससे अनुप्राणित है। उसके आलोक में ही माणवक के हृदय में परिस्थिति-जन्य दुर्वृत्तियाँ भी दब जाती हैं और वह लोकपीड़क के रूप में नहीं वरन् लोक-हितकारी के रूप में ही दिखाई पड़ता है।

सरमा

यादवी सरमा का चरित्र उत्थान, पतन, परिवर्तन, तथा आशा और निराशा की एक मनोरंजक एवं मर्मस्पर्शिणी करुण कहानी है। प्रभासक्षेत्र में अर्जुन के साथ जाते हुए वह नागों तथा आभीरों द्वारा अपहृत हुई। नागराज वासुकि पर मुग्ध होकर उसने उसका वरण किया। किन्तु नागकुल में जातीय अपमान की ज्वाला के अतिरिक्त उसे कुछ नहीं मिलता है। मनसा के विषाक्त व्यंग्यों से वह क्षुब्ध होती है। 'सब ते कठिन जाति अपमाना', गोस्वामी जी की इस उक्ति के अनुरूप जातीय अपमान असह्य होने पर वह मानों मनसा के अनर्गल प्रलाप के कारण उसके मुँह पर थप्पड़ मारती हुई नागकुल का परित्याग कर चल देती है। नागकुल का परित्याग करती हुई वह मनसा को जो मुँह तोड़ उत्तर देती है उसमें उसका स्वाभिमान कूट कूट कर भरा है। सरमा कहती है—"मनसा, मैं व्यंग्य सुनने नहीं आई हूँ! × × × × यह समझ रखना कि कुक्कुर वंश से यादवों की यह कन्या सरमा किसी के सिर का बोझ और अकर्मण्यता की मूर्ति होकर नहीं आई है। इस वक्ष-स्थल में अबलाओं का रुदन ही नहीं भरा है।" वह फिर कहती है—"मैं अपने सजातियों के चरण सिर पर धारण करूँगी, किन्तु इन हृदयहीन उद्दंड-बर्बरों का सिंहासन भी पैरों से ठुकरा दूँगी।" सरमा के उपरोक्त कथन में स्वाभिमान के साथ निर्भीकता और स्वावलम्बन की भावना भी व्यक्त होती है।

सरमा स्वाभिमानिनी और निर्भीक है किन्तु उसके हृदय में प्रतिहिंसा का कलुषित भाव नहीं है। वह उपेक्षा और तिरस्कार को भी शान्ति पूर्वक ग्रहण कर लेती है और तिरस्कार करने वाले के प्रति

उसके हृदय में प्रतिकार की भावना नहीं आती है। जनमेजय उसके पुत्र माणवक के साथ अन्याय करने वालों के विरुद्ध कोई दण्ड विधान करने को उद्यत नहीं होता है। वह उल्टा सरमा की ही भर्त्सना करता है—'चुप रहो पतिता स्त्रियों को श्रेष्ठ और पवित्र आर्यों पर अपराध लगाने का कोई अधिकार नहीं। ××××× जाओ सरमा! तुमको लज्जित होना चाहिए।' इस प्रकार दारुण अपमान की यन्त्रणा में पिसकर भी सरमा अवैध उपाय द्वारा उसका प्रतिकार नहीं करना चाहती। उसका पुत्र माणवक उसे उत्तेजित करता है—"माँ, मेरे हृदय में दारूण प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक रही है। घमण्डियों के वे वक्र विलोचन बरछी की तरह लग रही है। माँ, मुझे अत्याचार का प्रतिशोध लेने दो। मैं पिता के पास जाऊँगा। मुझे आज्ञा दो। ××××" सरमा के धैर्य्य और विवेक की कठिन परीक्षा का यह अवसर है। असाधारण हृदय ही ऐसी परिस्थिति में अपने को सम्हाल सकता है। सरमा इस अग्नि परीक्षा में पूर्ण सफल होती है। वह माणवक के गुप्त-हत्या प्रस्ताव को अस्वीकार कर, धैर्य्य पूर्वक परिस्थितियों का सामना करने के लिए उसे साहस प्रदान करती है।

सरमा में समत्व बुद्धि की प्रधानता है। वह शत्रु का अपकार न कर, अपने उपकारों द्वारा उसका हृदय परिवर्तन करती है। और उसका विवेक जाग्रत करती है। वपुष्टमा राजसभा में उसका अपमान करती हुई कहती है—"छीः आर्य ललना होकर नागजाति के पुरुष से विवाह किया! तभी तो यह लाञ्छना भोगनी पड़ती है।" सरमा अपमान की इस कड़वी घूँट को पीकर, कलिका दासी के रूप में वपुष्टमा की परिचर्या करती हुई नागों द्वारा उसके अपहृत होने पर उसके जीवन और सतीत्व की रक्षा करती है। सरमा की इस महान् विजय को वपुष्टमा स्वयं स्वीकार करती है—"बहिन सरमा, मुझे क्षमा करो। मैंने तुम्हारा बड़ा अनादर किया था। आज मुझे

तुम्हारे सामने आँख उठाते लज्जा आती है। तुमने मुझ पर जैसी विजय पाई है, वह अकथनीय है।" "इसी प्रकार यद्यपि मनसा प्रमादवश सरमा का खुला अपमान करती है तथा तक्षक उसे दो बार मारने को उद्यत होता है किन्तु वह मनसा को यह वचन देती है—"मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि मुझ से नागों का कुछ भी अनिष्ट नहीं होगा।" निस्सन्देह सरमा नागकुल की निरन्तर मंगल कामना करती है और अन्त में उसी के प्रस्ताव से जनमेजय और नागकन्या मणिमाला का विवाह हो जाने पर नागकुल शाश्वत कल्याण का भागी होता है।

विपत्तियों के वात्याचक्र में पड़कर भी सरमा अभीम साहस और धैर्य्य द्वारा अपनी जीवन नौका विश्व-महासागर में सफलता पूर्वक खेने की अपूर्व क्षमता रखती है। वह पति सुख से बंचिता है; पुत्र भी उसका साथ छोड़कर चला जाता है। स्वजातीय एवं पतिकुल के लोग उसकी उपेक्षा करते हैं। वास्तव में उसे विश्व में अपना कोई नहीं दिखाई पड़ता है। नाटककार ने उसकी मनोव्यथा का स्वल्प दिग्दर्शन उसकी एक स्वगतोक्ति द्वारा कराया है। माणवक के चले जाने पर वह अत्यन्त व्यथित हृदय से कहती है—"चला गया। हाय रे जननी का हृदय! मैं सब ओर से गई। अन्धकार पूर्ण शून्य हृदय इसमें सैकड़ों बिजलियों से भी प्रकाश न होगा।" जीवन की नैराश्यपूर्ण विपन्नदशा में भी उसका कर्त्तव्य ज्ञान सदैव सचेष्ट रहता है। तक्षक सोते हुए उत्तंक की हत्या करना चाहता है किन्तु सरमा झपट कर उसका हाथ पकड़ लेती है। और उत्तंक को मरने से बचा लेती है। वह नागकुल में रहकर भी नागों की कुटिल नीति का समर्थन नहीं करती। काश्यप, ब्राह्मणों को लेकर तक्षक के साथ जनमेजय के विरुद्ध विप्लव की मंत्रणा करता है। सरमा ऐसे पोच कार्य्यों का निर्भीकता पूर्वक खुला विरोध करती है। वह अपने प्राणों का भी मोह न कर तक्षक के सामने ही काश्यप को फटकारती है—"फिर भी

एक दस्युदल को उसका स्थानापन्न बनाना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। धर्म का ढोंग करके, एक निर्दोष आर्य्य सम्राट् को अपने चंगुल में फँसा कर, उसके पतित होने की व्यवस्था देना जिससे वह राज्यच्युत कर दिया जाय, क्या उचित है ?" सरमा की इस उक्ति में उसकी आत्मस्वतंत्रता की पूर्ण झलक है। वह अपना सब कुछ त्याग कर भी इसे अपनाए रहती है।

सरमा का दाम्पत्य प्रेम भी अपने ढंग का अपूर्व है। यादवी सरमा ने नागराज वासुकि पर मुग्ध होकर परिणय किया। वह इस सम्बन्ध में श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित विश्वमैत्री और साम्यभाव से भी अनुप्राणित हुई। नागकुल में अपमान यन्त्रणा से प्रताड़ित होने पर जब वह उसका परित्याग करती है तब भी उसका पतिप्रेम कम नहीं होता। वह अपने पत्नी भाव का त्याग नहीं करती है तथा वह जनमेजय के यहाँ भी स्वीकार करती है "मैंने अपनी इच्छा से नाग परिणय किया।" जब वासुकि, तक्षक से सरमा की रक्षा कर, उससे अपने साथ चलने का आग्रह करता है तब वह उसकी प्रार्थना ठुकरा नहीं देती वरन् स्वातन्त्र्य रक्षा का वचन लेकर वह उसके साथ पुनः नागकुल में सम्मिलित होती है। सरमा केवल स्वाभिमान-वश ही अपने पति से अलग है। वह पति स्नेह में तो सर्वथा अभिन्न है। पति को कष्ट में पड़ा हुआ देखकर उसका नारी हृदय हाहाकार कर उठता है। वासुकि जब जनमेजय की सेना से एक बार घिर जाता है तब सरमा का पतिप्रेम मर्य्यादा का बाँध तोड़कर मानों फूट निकलता है—"देवता ! तुम संकट में हो, यह सुनकर भला मैं कैसे रह सकती हूँ। मेरा अश्रुजल समुद्र बनकर तुम्हारे और शत्रु के बीच गर्जन करेगा; मेरी शुभ कामना तुम्हारा वर्म बनकर तुम्हें सुरक्षित रखेगी ! तुम्हारे लिए अपमानित सरमा राजकुल में दासी बनेगी।" पति की कल्याण कामना से प्रेरित होकर ही सरमा वपुष्टमा

की कलिका नामधारिणी दासी बनती है और उसे सब प्रकार के संकटों से बचाती है। सरमा का दाम्पत्यप्रेम भारतीय परम्परा के अनुकूल है। भारतीयनारी एक बार जिसे अपना पति चुन लेती है उसके लिए आत्मोत्सर्ग करने में अपना परम सौभाग्य मानती है। सरमा का पति प्रेम गंभीर और अभिन्न है। सरमा के चरित्र में नाटककार ने एक ऐसी आदर्श नारी का चरित्र प्रस्तुत किया है कि जो जीवन की प्रतिकूल दशाओं में भी अपने पवित्र उद्देश्यों पर स्थिर रहती है। वह जीवन में अनेक कष्ट अपमान आदि को सहती हुई विश्व-मैत्री और साम्य के आदर्श का मनसावाचा कर्मणा सतत पालन करती है। अन्त में उसके पावन चरित्र की महत्ता से प्रभावित हो उसके शत्रु भी उसके आगे सिर झुकाते हैं और वह सबकी श्रद्धा का पात्र बनती है। सरमा का चरित्र निस्सन्देह अत्यन्त गौरवपूर्ण है। वह लोक व्यवहारों के बीच अपने अपने अलौकिक व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ती हुई नाटकीय वातावरण को स्वर्गीय सुषमा से विभूषित करती है।

मणिमाला

मणिमाला का जन्म नागकुल में है। वह नागराज तक्षक की कन्या है। किन्तु उसका शिक्षण और चारित्रिक विकास आर्य्य तपोवन में होता है। अतः उसके हृदय पर नाग-संस्कृति के स्थान पर आर्य्य-संस्कृति का विशेष प्रभाव है। वह करुणा, विश्व-प्रेम, उदारता आदि सात्विक भावों से ओत-प्रोत है। मणिमाला भावुक भी है। प्रकृति के नाना दृश्यों और उपादानों में उसकी वृत्ति रमती है और उनसे वह जीवन के लिये सुन्दर आदर्श ग्रहण करती है।

शिक्षा के प्रभाव से मणिमाला अपने आदर्शों को कार्य्य रूप में परिणित करने के लिए तत्पर रहती है। अतिथि सेवा, विपन्न रक्षा, घायलों की सेवा आदि विविध कार्य्यों में वह सोत्साह संलग्न रहती है। जनमेजय से वह बारम्बार आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध करती है—" स्वागत! माननीय अतिथि आपको इस गुरुकुल का आतिथ्य अवश्य ग्रहण करना चाहिये। नहीं तो कुलपति सुनकर हम लोगों पर रुष्ट होंगे।" अश्वसेन के हाथों से वह दामिनी के सतीत्व की रक्षा करती है। वह अश्वसेन को उसकी कामुक चेष्टाओं के लिए भरपेट कोसती है—' भइया, तुम एक दुर्बल रमणी पर अत्याचार करोगे? मुझे स्वप्न में भी इसका अनुमान न था। मेरे पिता जी की सन्तान होकर तुम ऐसी नीचता करोगे। हाय! नागकुल में ऐसे व्यक्ति उत्पन्न हुए तभी तो उसकी यह दशा है।" मणिमाला, युद्ध और संघर्ष को सदा प्रोत्साहन देने वाली मनसा की, व्यंग्यात्मक शब्दों द्वारा लम्बी खबर लेती है और युद्ध के प्रति उसके हृदय में विरक्ति उत्पन्न करा कर वह उसी के साथ घायलों की शुश्रूषा में प्रवृत्त होती है।

मणिमाला का समस्त जीवन विश्वमैत्री से अनुप्राणित है। इसी की प्रेरणा से वह मनसा को उत्तेजनात्मक कार्यों से विरत करती है और अपने पिता से भी युद्ध व्यापार बन्द कर देने का अनुरोध करती है। वह अपने पिता से कहती है—"पिता जी जब कि आर्यों ने इधर उपद्रव करना बन्द कर दिया है और वे एक दूसरे रूप में सन्धि के अभिलाषी हैं; तब फिर आप युद्ध के लिए क्यों उत्सुक हैं ?"

मणिमाला कायर नहीं है। संकटपूर्ण समय के उपस्थित होने पर वह साहस के साथ उसका सामना करने के लिए प्रस्तुत रहती है। उसके पिता ने राजमहिषी वपुष्टमा के अपहरण का दुष्कर आयोजन किया है। विपत्ति की आशंका से मणिमाला मुँह छिपा कर नहीं बैठती। वह पिता को बचाने के लिए पूर्ण साहस और युद्धोत्साह के साथ तत्पर होती है। आस्तीक से वह कहती है—"नहीं, मैं तो आज उपद्रव में कूद पड़ूंगी। क्यों भाई, क्या तुम्हें रमणियों की दुर्बलता ही विदित है; उनका साहस तुमने नहीं सुना।" मणिमाला योद्धा वेश में तक्षक के साथ घटना स्थल पर जाती है उसके साथ वह भी बन्दिनी होती है।

मणिमाला के जीवन का प्रणय प्रसंग बड़ा मनोहर है। तपोवन में जनमेजय से उसकी प्रथम भेंट होती है और उसकी 'उदारता व्यंजक मनोहर मूर्ति, तथा 'तेजोमय मुखमंडल' उसके अन्तः करण में एक तरह की गुदगुदी' पैदा कर देता है। जनमेजय उसका आतिथ्य तो नहीं ग्रहण करता किन्तु उसके 'पवित्र सौन्दर्य्य-पूर्ण मुख-मण्डल' से प्रभावित हो उस 'नागकुमारी की प्रजा होना भी अच्छा समझता' है। इस प्रकार दोनों के हृदय में प्रणय का अंकुर समान रूप से एक ही समय में प्रस्फुटित होता है। वीरत्व व्यंजक सौन्दर्य रतिभाव को पुष्ट करने में सहायक होता है। मणि-माला आगे चलकर जनमेजय की इस छवि पर अपना सम्पूर्ण हृदय

हार बैठती है। जनमेजय सैनिकों के साथ आकर नागों को भगाते हुए अश्व छुड़ा ले जाते हैं। उसी समय मणिमाला का प्रवेश होता है वह जनमेजय के युद्धोत्साह पूर्ण वीरत्व व्यंजक सौन्दर्य का पुनः साक्षात्कार कर एकाकी अपना प्रणय भाव मुखरित करती है—"क्या ही वीर दर्प से पूर्ण मुख श्री है! प्रणय-वृक्ष, तू कैसे भयानक पानी से टकराने वाले कगारे पर लगा है।" मणिमाला और जनमेजय का परिणय सम्बन्ध केवल राजनैतिक और सांस्कृतिक ऐक्य का ही सूचक नहीं है वरन् वह दो सच्चे प्रणय-पूर्ण हृदयों का यथार्थ सम्मिलन है।

नाटक की नायिका मणिमाला है। वह नायक के प्रतिपक्षी की कन्या है। उसके जीवन का अधिकांश विकास-क्रम नाटक में प्रदर्शित है। नाटक के अधिकांश आदर्श—करुणा, विश्वप्रेम, आतिथ्य, सेवा, विपन्न रक्षा युद्धोत्साह आदि उसके चरित्र में वर्तमान हैं। नाटकीय कथावस्तु के अन्तर्गत ही नायक के साथ उसका प्रणय प्रसंग प्रारम्भ होता है और संघर्ष के बाद नायक को उसकी प्राप्ति होती है। यद्यपि नाटक में संघर्ष उसकी प्राप्ति के लिए ही नहीं है फिर भी वह नायक को प्रतिपक्षी से संघर्ष की शान्ति स्वरूप ही मिलती है। यद्यपि वपुष्टमा नायक की परिणीता भार्य्या है किन्तु उसका नायक के साथ जीवन सम्बन्ध नाटकीय वातावरण से पूर्व का है और उपर्युक्त अनेक विशेषताओं का उसमें अभाव है अतः वह नायिका नहीं मानी जासकती है।

वपुष्टमा

आर्य महिषी वपुष्टमा का चरित्र शान्त, उदार और निर्वैर भावापन्न है। आर्यों और नागों के संघर्ष में उसका कोई सक्रिय भाग नहीं है। वह एक सती नारी की भाँति अपने पति की कल्याण कामना में सदैव मग्न रहती है और संघर्ष के परिणामों से सदैव सशंक रहती है। वपुष्टमा अपनी एक सखी से इसी भाव को व्यक्त करती है—"उद्विग्न ! प्रमदा, मेरा हृदय बहुत ही उद्विग्न हो रहा है। मेरा चित्त चंचल हो उठा है। भविष्य कुछ टेढ़ी रेखा खींचता हुआ दिखाई दे रहा है।"

वपुष्टमा उदार और न्यायप्रिय भी है। उत्तंक को अपने अति प्रिय एवं बहुमूल्य मणिकुंडल सहर्ष प्रदान करती है। सरमा की न्याय की पुकार सुनकर वह द्रवित हो उठती है और अपने पति जनमेजय से कहती है— "आर्य्यपुत्र ! न्याय कीजिए। नारी का अश्रुजल अपनी एक एक बूंद में बहिया लिए रहता है।" सरमा ने जब अपना रहस्य प्रकट करते हुए यह बताया कि "मैंने अपनी इच्छा से नाग-परिणय किया था" तब वपुष्टमा उसके प्रति अनादर पूर्ण शब्दों का प्रयोग करती है— "छीः आर्य्य-ललना होकर नाग जाति के पुरुष से विवाह किया ! तभी तो यह लाञ्छना भोगनी पड़ती है।" वपुष्टमा के उक्त कथन में जातीय मर्य्यादा का भाव है। मानवता की दृष्टि से चाहे उसका यह कथन त्रुटि पूर्ण माना जाय किन्तु मर्य्यादा की दृष्टि से उसे हम इसके लिए दोषी नहीं ठहरा सकते हैं। नाटककार ने सरमा से वपुष्टमा द्वारा उक्त कथन के लिए क्षमा याचना कराकर उसकी हीनता प्रदर्शित की है। सरमा के मुख से उसके उक्त कथन को सिंहासन का आवेश बताया है, किन्तु उस पर यह आरोप समीचीन नहीं है।

प्रत्येक व्यक्ति देश काल की मर्य्यादा से नियन्त्रित है। वपुष्टमा यदि सरमा को मर्य्यादा भंग के लिए लाञ्छित करती है तो वह देश काल सम्मत है।

वपुष्टमा में मर्य्यादा का ध्यान केवल दूसरों की आलोचना ही के लिए नहीं है, प्रत्युत वह अपने जीवन के परम संकट काल में भी आत्म-मर्य्यादा के लिए ही विशेष आकुल दिखाई पड़ती है। नाग लोग उसे मूर्छित दशा में उठाकर लेजाते हैं। संज्ञा प्राप्त होने पर वह अपने जीवन के लिए चिन्तित नहीं होती है वरन् वह आत्म-मर्य्यादा की भावना से सरमा से कहती है—"किन्तु बहन, मैं तो किसी ओर की नहीं रही। सम्राट् की इच्छा क्या होगी, कौन जाने। आर्य्यावर्त भर में यह बात फैल गई होगी कि साम्राज्ञी—" वपुष्टमा की पवित्रता के लिए व्यास के प्रमाण देने पर जनमेजय उसे स्वीकार करता है।

वपुष्टमा अपने पति की कल्याण भावना से सापत्न्य संताप सहने के लिए स्वयं अग्रसर होती है। वह सरमा द्वारा प्रस्तावित मणिमाला के विवाह का समर्थन करती है और स्वयं उसका हाथ जनमेजय को पकड़ाती हुई कहती है 'यह निर्मल कुसुम तुम्हारे समस्त सन्ताप का हरण करके मस्तक को शीतल करे।' वपुष्टमा का समस्त चरित्र सात्विक भाव सम्पन्न है और वह भारतीय सती नारी के सर्वथा अनुरूप है।

दामिनी

यौवन की मदिर आकांक्षाओं से उन्मत्त दामिनी विषय वासना की मृगतृष्णा में पथभ्रष्ट हो इधर-उधर भटकती फिरती है। वह गुरुकुल के आचार्य वेद की धर्म्मपत्नी है किन्तु इसे अपने पद और मर्य्यादा का भी ध्यान नहीं रहता है और वह बारम्बार अपने पति के शिष्य उत्तंक पर अनुरक्त हो जाती है। वह विलास पूर्ण विभ्रमों द्वारा उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करती है। जूड़े में माला लगवाने तथा मणिकुण्डल पहनाने के व्याज से वह उत्तंक का अंगस्पर्श कर उसे कामोत्तेजित करना चाहती है। किन्तु उत्तंक उसके कलुषित प्रेम का प्रतिदान नहीं करता है। दामिनी 'आत्मघात सदृश मनोनिग्रह नहीं कर सकती है।' वह वासना के अतिरेक से निर्लज्ज भी हो जाती है। उसका पति उसकी दुश्चेष्टाओं को लक्षित कर लेता है और उसकी भर्त्सना करता है—'दामिनी! मैंने तेरी दुर्बलता और उत्तंक का चरित्र-बल अपनी आंखों से देखा है। तुझे लज्जा नहीं आती कि मैंने उस त्रुटि की पूर्ति के लिए तुझे जो अवसर दिया, वह तूने खोदिया! दामिनी अपने पति की इस कठोर निन्दा की किंचित परवाह नहीं करती है। वह उत्तंक के सामने अपनी वासना का नग्नचित्र ही उपस्थित करती है—'तो चले जाओगे? आज मैं स्पष्ट कहना चाहती हूँ कि—'

प्रेम का प्रतिदान न होने पर नारी का हृदय ईर्षा प्रेरित हो प्रतिशोध के लिए तत्पर हो जाता है। वह जिस वेग से प्रेम-पथ पर अग्रसर होती है, प्रेम के न प्राप्त होने पर, उससे दूने वेग से ईर्षा जनित प्रतिशोध के लिये कटिबद्ध हो जाती है। दामिनी की भी यही दशा है। उत्तंक से तिरस्कृत होने पर वह उससे प्रतिशोध लेने के लिए

निकल पड़ती है। पहिले तो वह माणवक को अपने साथ में लेना चाहती है पर उसके अस्वीकार करने पर वह स्वयं तक्षक के यहाँ जा पहुँचती है। वह तक्षक से, जनमेजय के यहाँ उत्तंक के जाने का रहस्य बताकर उसके सर्वनाश के लिए उसे उत्तेजित करती है। इस प्रकार दामिनी वासना और ईर्षा के अंधड़ में पड़कर क्रमशः स्थान भ्रष्ट होती जाती है। उसे अपनी इस पतितावस्था का अनुभव तक्षक के यहाँ नागकुल में होता है। वहाँ पर नागों की कुटिलता और क्रूरता देखकर उसे अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान होता है। उसका विवेक जाग्रत होने पर वह देखती है—"मनुष्य जब एक बार पाप के नागपाश में फँसता हैं, तब वह उसी में और भी लिपटता जाता है। उसी के गाढ़े आलिंगन, भयानक परिरंभ में सुखी होने लगता है। पापों की शृंखला बन जाती है। उसी के नए नए रूपों पर आसक्त होना पड़ता है।"

विवेक के जाग्रत होने पर दामिनी आत्मसंयम द्वारा आत्मोद्धार का प्रयास करती है। वह अपने हृदय का सम्पूर्ण साहस बटोर कर अश्वसेन को उसकी कामुक चेष्टाओं के कारण फटकारती है—"हटो, अश्वसेन मेरा मानस कलुषित हो चुका है; पर अभी तक मेरा शरीर पवित्र है। उसे दूषित न होने दूंगी— चाहे प्राण चले जाँय। ××××" दामिनी निर्भीकता पूर्वक अश्वसेन को दुत्कार कर अपने सतीत्व की रक्षा करती है, और अपने पति के पास पुनः आकर आत्म-अपराधों के लिए क्षमा माँगती है। माणवक भी उसकी सच्चरित्रता की साक्षी देता हुआ वेद से क्षमा करने का आग्रह करता है—"आर्य! क्षमा से बढ़कर और किसी बात में पापको पुण्य बनाने की शक्ति नहीं है। मैं भलीभाँति जानता हूँ कि यह स्त्री आचारतः पवित्र और शुद्ध है।"

दामिनी की मानसिक दुर्बलता यौवन के प्रथम आवेग से तथा कुछ परिस्थिति जन्य भी है। वेद ने वृद्धावस्था में दामिनी का पाणि-ग्रहण किया, और 'युवती स्त्री को छोड़कर योंही परदेश में समय' बिताने लगे।' अतएव इन्द्रियों की प्रबलता को दामिनी नहीं दमन कर सकती। चंचलता और रूपमोह उसमें परिस्थितिजन्य दुर्बलताएँ हैं। यौवन के प्रादुर्भाव होने से वह अपनी वेशभूषा और सजावट के लिए उत्सुक दिखाई पड़ती है। शीला के साथ इस विषय पर एक लम्बी वार्तालाप के बाद उसे अपनी इस दुर्बलता का ज्ञान होता है।

दामिनी के चरित्र की यह एक विशेषता है कि उसे अपने दुर्गुणों एवं दुर्बलताओं का ज्ञान हो जाने पर वह उनका तत्काल परिहार करती है। इससे उसका व्यक्तित्व गिरकर भी ऊँचे उठ जाता है। वह अपने इस उन्नत व्यक्तित्व के प्रभाव ही से उत्तंक ऐसे दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति को नागयज्ञ से विरत कर देती है। उत्तंक अपने गुरुवेद के आग्रह की उपेक्षा करता है पर वह दामिनी के प्रत्यक्ष दृष्टांत के समक्ष सिर झुका देता है।

दामिनी का चरित्र विकास स्वाभाविक है। उसकी स्वभावज दुर्बलताएँ परिस्थितियों से टकरा कर दूर हो जाती हैं और उसका प्रकृत नारीत्व प्रस्फुटित हो जाता है। दुर्बलताओं पर विजय पाना ही मानव जीवन की सफलता है।

व्यास

व्यास महात्मा हैं। वे दिव्यदृष्टि सम्पन्न भूत, भविष्य और वर्तमान के ज्ञाता हैं। साथ ही वे विश्वकल्याण के इच्छुक हैं और नाटक के अधिकांश प्रधान पात्रों को कल्याण मार्ग की ओर प्रेरित करने वाले हैं। जनमेजय, आस्तीक, मणिमाला, शीला, सोमश्रवा सब उनकी शरण में जाते हैं। वे इन सभी को उनके भविष्य का संकेत देकर कल्याण मूलक सत्कर्मों की ओर प्रेरित करते हैं। नाटक के अन्तिम दृश्य में व्यास के व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। वे नागयज्ञ रुकवाकर आस्तीक का आवेदन जनमेजय से स्वीकार कराते हैं। व्यास के साक्षी देने पर जनमेजय अपनी घर्षिता महिषी वपुष्टमा को पुनः ग्रहण करता है। ब्राह्मण मण्डली और जनमेजय के बीच सौमनस्य व्यासदेव की कृपा से ही पुनः प्रतिष्ठित होता है। जनमेजय ब्राह्मणों से क्षमा मांगते हैं और ब्राह्मण लोग उसे आशीर्वचनों से संतुष्ट करते हैं। इस प्रकार नाटक के अन्तिम दृश्य में व्यास के प्रभावशाली एवं समादृत व्यक्तित्व से सभी विषमताएँ दूर होती हैं।

व्यास उच्च दार्शनिक हैं। नियतिवाद का मूलमंत्र व्यासदेव से उद्घोषित होता है। मनुष्य के प्रत्येक कर्म में एक अदृष्ट शक्ति का हाथ सदैव रहता है; वही नियति कही जाती है। मानव अपने कर्म करने में स्वतंत्र नहीं है "अन्ध नियति कर्तृत्व मद से मत्त मनुष्यों की कर्मशक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य्य कराती है।" अतः उसे भविष्य के लिए आकुल न होना चाहिए; जो हो रहा है उसे होने देना चाहिए। व्यास की यह दार्शनिक विचार धारा मानव मस्तिष्क ग्राह्य है। मन को प्रकृतिस्थ रख कर शुद्धबुद्धि से कार्य्य करते रहने पर मनुष्य अवश्य कल्याण का भागी होता है। व्यास के समस्त उपदेशों का सार यही है।

सोमश्रवा और शीला

ब्राह्मण दम्पति सोमश्रवा और शीला सात्विक भाव सम्पन्न हैं। शुद्धबुद्धि की प्रेरणा से विश्वकल्याण के लिये निष्काम कर्म करना उनका जीवनलक्ष्य है। सोमश्रवा जनमेजय की पुरोहिती अर्थ लोभ से नहीं वरन् याज्ञिक क्रियाओं को विधिवत् कराने की दृष्टि से स्वीकार करता है। उनके इस कार्य्य का समर्थन उस समय के महर्षि च्यवन और महात्मा वेदव्यास मुक्तकंठ से करते हैं। सोमश्रवा राजपुरोहित होकर भी अपने विचार स्वातंत्र्य और कर्त्तव्य ज्ञानका त्याग नहीं करता। धर्म के विरुद्ध कोई कार्य्य होने पर पुरोहिती छोड़देने की प्रतिज्ञा करके ही वह राजपुरोहित होना स्वीकार करता है। अवसर पड़ने पर वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहता है। नागयज्ञ के विधान में आचार्य बनना वह अस्वीकार करता है। वह खुले शब्दों में कहता है—"शास्त्र के विरुद्ध कोई नया नियम बनाने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है। नरबलि का यह घातक कार्य्य मुझसे न होगा।" सोमश्रवा के इस कथन से विचार स्वातंत्र्य के अतिरिक्त उसकी निर्भीकता भी प्रकट होती है।

सोमश्रवा में ब्राह्मणोचित विनय और क्षमाशीलता है। जनमेजय प्रमादवश ब्राह्मणों को निर्वासन दण्ड देता है। काश्यप के अपराध से उत्तेजित हो निर्दोष ब्राह्मणों को इस प्रकार दण्डित करना जनमेजय का जघन्य अपराध है। किन्तु सोमश्रवा इससे रुष्ट होकर शाप नहीं देता। जनमेजय का विवेक जागृत होने पर जब वह ब्राह्मणों से क्षमा मांगता है तब सोमश्रवा के नायकत्व में समस्त ब्राह्मणमण्डली उसे आशीर्वचनों से संतुष्ट कर देती है। निस्सन्देह काश्यप ने अपने कलुषित कर्मों से ब्राह्मणकुल पर जो कलंक-कालिमा पोती सोमश्रवा अपने सात्विक आचरणों द्वारा उसे धो देता है।

शीला सोमश्रवा की धर्मपत्नी है। वह पति के मांगलिक कार्य्य, अग्निहोत्र आदि में सहयोग देकर उसके अनुकूल ही सर्वत्र आचरण करती है। वह आर्य्य-ललनाओं की भाँति अपने पति के सत्कार्यों में सहकारिणी है। शीला भावुक है। उसे अपनी सखियों से बड़ा प्रेम है। मणिमाला से तो उसकी अभिन्न मित्रता है। वह जिस प्रकार उसके साथ हास्य विनोद में योग देकर हृदय को मुकुलित करती है उसी प्रकार उस पर संकट आने पर उसके साथ अपना जीवन अर्पण करने को भी वह प्रस्तुत हो जाती है। जनमेजय, तक्षक के साथ, मणिमाला को भी यज्ञकुंड में डाल कर जला देना चाहता है। शीला भी अपनी सखी के साथ जलने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। वह भरी सभा में ललकार कर कहती है—'बहन मणिमाला, मैं तुम्हारे साथ हूँ। यदि तुम्हें जलावेंगे, तो मैं भी तुम्हारे साथ जलूंगी।"

शीला मानों दामिनी का प्रतिरूप है। दामिनी विषयवासना की मृगतृष्णा में जगह जगह टकराती फिरती है। शीला अपने पति की सच्ची अनुगामिनी है वह 'आर्य्य ललनाओं के समान ही अपने पति के सत्कर्मों में सहकारिणी' है। दामिनी को वस्त्राभूषणों से विशेष मोह है। वह यज्ञशाला में कुललनाओं और राजकुल की स्त्रियों के बीच उन्हीं के समान सजधज कर जाना चाहती है। किन्तु शीला समझती है—'स्त्रियाँ विशेष शृंगार का ढोंग करके अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता भी खो बैठती हैं।" अतः वह 'सरलता, हृदय की पवित्रता, और स्वच्छता' को ही स्त्रियों के लिए वांछित मानती है। दामिनी को शीला के सात्विक हृदय और पावन व्यक्तित्व के समक्ष सिर झुकाना पड़ता है। शीला और सोमश्रवा का चरित्र आदर्श रूप में अंकित है।

राज्यश्री

'राज्यश्री' नाटक में राज्यश्री का चरित्र सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। उसके चरित्र में पतिपरायणता, साहस, दृढ़ता, आत्मगौरव, एवं उदारता आदि विविध गुणों का निदर्शन होने से वह सबकी श्रद्धा का सहज आलंबनरूप है। चरित्र गौरव एवं विस्तार की दृष्टि से वही नाटक की नायिका है।

नाटकीय मंच पर राज्यश्री का सर्वप्रथम आविर्भाव एक पतिपरायणा आदर्श आर्य्य नारी के रूप में होता है। वह अपने शंकाकुल एवं चिन्ताग्रस्त पति के हृदय को अपनी साहस तथा सान्त्वनापूर्ण वाणी द्वारा प्रकृतिस्थ करने का प्रयास करती है। वह ग्रहवर्म्मा से कहती है—"नाथ, आप-जैसे धीर पुरुषों को—जिनका हृदय हिमालय के समान अचल और शान्त है—क्या मानसिक व्याधियाँ हिला या गला सकती हैं? कभी नहीं!" जब ग्रहवर्म्मा मृगया के लिए सीमान्त के जंगलों की ओर चले जाते हैं तब राज्यश्री पति की मंगल कामना निरन्तर करती हुई देवोपासना, दान आदि विविध कार्य्यों में प्रवृत्त होती है। उसका अधिकांश समय पति की चिन्तना में ही व्यतीत होता है।

राज्यश्री के चरित्र में क्षत्रियोचित साहस स्वाभिमान एवं वीरत्व का पर्य्याप्त निदर्शन है। शांतिभिक्षु के द्वारा भिक्षा न लेने के कारण यद्यपि राज्यश्री का कोमल नारी-हृदय भावी अमङ्गल की कल्पना से कातर एवं व्यथित हो जाता है किन्तु वह सीमाप्रान्त में पति के साथ छिड़ने वाले युद्ध समाचार से अधीर अथवा चञ्चल नहीं होती। प्रत्युत वह मंत्री से कहती है—"मंत्री, इसी बात को कहने में आप संकुचित होते थे। क्षत्राणी के लिए इससे बढ़कर शुभ समाचार कौन होगा! आप प्रबन्ध कीजिए, मैं निर्भय हूँ।"

इसी प्रकार उपासना गृह में देव-प्रतिमा के पीछे से शांतिभिक्षु के हँसने के कारण यद्यपि वह विक्षिप्त सी हो जाती है किन्तु देवगुप्त के आगमन का समाचार सुनते ही वह साहस पूर्वक कहती है—"जाओ उन्हें सादर लिवा लाओ।" देवगुप्त के सामने आते ही वह सच्ची क्षत्राणी के अनुरूप उसपर दृढ़ता के साथ शस्त्र-चालन करती है। वह देवगुप्त के आधीनस्थ होने पर भी उसके समस्त ऐश्वर्य्य सुख के प्रलोभनों को ठुकरा कर अपने सतीत्व की रक्षा करती है। देवगुप्त के समक्ष वह जिस निर्भीकता एवं दृढ़ता का परिचय देती है वह दर्शनीय है। वह देवगुप्त से कहती है—"तुम देवगुप्त ? मुझसे बात करने के अधिकारी नहीं हो—मैं तुम्हारी दासी नहीं हूँ। एक निर्लज्ज प्रवंचक का इतना साहस !"

राज्यश्री के व्यक्तित्व में आत्मगौरव का अभाव नहीं है। वह शत्रु एवं मित्र सभी के समक्ष उसकी रक्षा के लिए सतत सचेष्ट है। घोर विपत्तियों के वात्याचक्र में पड़कर उसे आत्मगौरव विस्मृत नहीं होता। अपने चिर शत्रु देवगुप्त के समक्ष तो प्राणों की बाजी लगा कर वह आत्मगौरव की रक्षा के लिए सन्नद्ध दिखाई पड़ती है। देवगुप्त को मानों खुली चुनौती देती हुई कहती है "बस मैं सचेत हूँ देवगुप्त! मुझे अपने प्राणों पर अधिकार है। मैं तुम्हारा वध न कर सकी तो क्या अपना प्राण भी नहीं दे सकती ?" राज्यश्री, जीवन की दयनीय दशा में अपना वंश परिचय देने में आत्मगौरव की हानि समझती है। दिवाकर मित्र उसे दस्युओं के साथ विवशता-ग्रस्त दशा में देखकर उसका परिचय प्राप्त करना चाहता है तो वह कहती है—"जब विपत्ति हो, जब दुर्दशा की मलिन छाया पड़ रही हो, तब अपने उज्वल कुल का नाम बताना, उसका अपमान करना है।"

नाटक में चित्रित राज्यश्री का जीवन विपत्तियों तथा कष्टों की एक करुण कहानी है। उसका पति युद्ध में मारा जाता है।

वह देवगुप्त के बन्दीगृह में अपमान एवं क्षोभ की दारुण यन्त्रणा में संतप्त होती है। उसका भाई राज्यवर्धन उसके उद्धार के प्रयास में छलपूर्वक मारा जाता है। पुनः दस्युओं के हाथ में पड़कर वह अनाथा की भाँति जगह जगह अनिश्चित भाव से घूमती रहती है। जीवन की इस विषादपूर्ण एवं दयनीय दशा से उसका हृदय आकुल हो उठता है। वह देवगुप्त के बन्दीगृह में अपनी सखी विमला से कहती है—"वेदना रोम-रोम में खड़ी है, विमला! चेतना ने तो भूली हुई यातनाओं, अत्याचार और इस छोटे-से जीवन पर संसार के दिए हुए कष्टों को फिर से सजीव कर दिया है। सखी! औषधि न देकर यदि तू विष देती तो कितना उपकार करती।" राज्यश्री दुःख की अतिव्याप्ति से ऊबकर अपने प्राण विसर्जन के लिए अनेक अवसरों पर तत्पर दिखाई पड़ती है। वह दस्युओं से कहती है—"मैं दुखी हूँ, दस्यु! तुम धन चाहते हो, पर वह मेरे पास नहीं! इस विस्तीर्ण विश्व में सुख मेरे लिए नहीं, पर जीवन?" × × × ×"तब अच्छा हो कि मेरे जीवन का अन्त हो जाय।" वह दिवाकर मित्र से कहती है—"दुखों को छोड़कर और कोई न मुझसे मिला मेरा चिर सहचर! परन्तु अब उसे भी छोड़ूँगी। आर्य्य मुझे आज्ञा दीजिए। स्त्रियों का पवित्र कर्त्तव्य पालन करती हुई इस क्षण भंगुर संसार से विदाई लूं—नित्य की ज्वाला से, यह चिता की ज्वाला प्राण बचावे।" राज्यश्री के चरित्र की यह महान् विशेषता है कि दुःखों की काली घटा से सदैव आक्रान्त रहने पर भी वह सतीत्व एवं आत्म-गौरव पर किंचितमात्र आँच नहीं लगने देती और वह इनकी रक्षा के लिए अपने प्राण सदैव हथेली पर रखे प्रत्येक विपत्तिपूर्ण परिस्थिति का साहस पूर्वक सामना करती है।

राज्यश्री के चरित्र में जहाँ साहस, धैर्य्य, दृढ़ता, आत्मनिग्रह आदि विविध गुणों का समावेश है वहाँ उसमें उदारता का निदर्शन भी अपनी चरमावस्था पर है। राज्यश्री प्रारम्भ ही से अत्यन्त

उदार है। वह भिक्षुओं को नित्य अन्न वस्त्र का दान देती है। कोई याचक विमुख होकर नहीं जाता। दानप्रकरण में शान्तिभिक्षु के धृष्ट आचरण से वह क्रुद्ध नहीं होती वरन् वह पूर्ण शान्ति एवं गंभीरता से उसे जीवन का आदर्श पथ सद्उपदेश द्वारा दिखाकर कहती है—"यदि तुम्हारी कोई अत्यन्त आवश्यकता हो तो मैं पूरी कर सकती हूँ; निश्चिन्त उपासना की व्यवस्था करा दे सकती हूँ।"

एक लम्बे कष्टमय जीवन के पश्चात् भाई हर्षवर्धन से मिलने पर जब राज्यश्री पुनः शक्ति एवं वैभव सम्पन्न हो जाती हैं तब भी वह अपनी सहज उदारता का परित्याग नहीं करती। वह अपने भाई के हत्यारे नरेन्द्र को क्षमा करने का अनुरोध करती हुई हर्षवर्धन से कहती है—"फिर भी वह क्षम्य हैं। अपना सम्बन्धी है। भाई जाने दो। आज हम लोग दान देने चल रहे हैं, क्षमा करो भाई।" विकटघोष सदृश नीचकर्मा एवं दुर्दान्त मनुष्य, जिसने उसके एक भाई की हत्या की, दूसरे भाई पर प्राणान्तक शस्त्र चलाया, एवं उसे भी यातनाओं के गहरे समुद्र में घसीट कर डाल दिया, उसके प्रति भी उसकी प्रतिहिंसा नहीं प्रदीप्त होती और वह उसे भी हर्षवर्धन से क्षमा करा देती है।—"आज हम लोगों ने सर्वस्व दान किया है, भाई! आज महाव्रत का उद्यापन है। क्या एक यही दान रह जाय—इसे प्राणदान दो भाई।"

राज्यश्री का चरित्र हिमालय सदृश उच्च एवं सागर सदृश गम्भीर है। प्रवंचना, प्रतारणा, छल, विद्रोह, हत्या आदि की भीषण आंधियाँ उसके सर पर से निकल जाती हैं पर वह अपनी मर्य्यादा में अटल है। उसके इसी महत्वपूर्ण जीवन का प्रभाव शत्रु मित्र सब पर समान रूप से पड़ता है और वे भी उसकी पतित पावनी चरित्र-मन्दाकिनी में अवगाहन कर निर्विकार अथच निर्मल हो जाते हैं। 'प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर लाखों प्राणों का संहार करने वाला' हर्ष 'राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास' करता है और आगे

चलकर शत्रुओं को अपना प्राणदान तक करने के लिए प्रस्तुत होता है। शान्तिभिक्षु मन को संयत कर उसके आदेशानुसार श्लाघा और आकाँक्षा का पथ छोड़ कर सच्चा भिक्षु बनता है। विलास एवं वैभव की तृष्णा में दर दर की ठोकरें खाने वाली सुरमा अपने प्रायश्चित्त के लिए उसकी शरण आती है और चित्त-शुद्धि-पूर्वक काषाय ग्रहण करती है। महाश्रमण सुएनच्वाँग स्वयं उसके चरित्र की महानता से अभिभूत है।—"सर्वस्व दान करने वाली देवी! मैं तुम्हें कुछ दूं—यह मेरा भाग्य। तुम्हीं मुझे वरदान दो कि भारत से जो मैंने सीखा है वह जाकर अपने देश में सुनाऊं।" निस्संदेह ऐसी ही सती नारियों ने भारत का मस्तक संसार में सदा ऊंचा रक्खा है।

राज्यश्री में चरित्र की महानता होते हुए स्त्रियोचित स्वभाव की एक दुर्बलता है। शान्तिभिक्षु दान ग्रहण नहीं करता अतएव वह स्त्री स्वभावानुसार चिन्ताकुल हो जाती है। जब वह प्रतिमा के ऊपर पुष्पाँजलि चढ़ाती है, शान्तिभिक्षु पीछे से ठठाकर हंस देता है। राज्यश्री इस रहस्य को न समझकर मूर्छित हो जाती है और स्वभाव दुर्बलतावश नाना चिन्ताएं उसे आक्रान्त कर कुछ समय के लिए विक्षिप्त सा बना देती हैं।

राज्यश्री की इस स्वभाव—दुर्बलता से उसके चरित्र की महानता में किञ्चित अन्तर नहीं पड़ता वरन् वह हमें भूतल की आदर्श रमणी प्रतीत होती है। शायद उसमें यदि यह स्वभाव की दुर्बलता न होती तो उसका चरित्र हमारी दृष्टि में काल्पनिक प्रतीत होता और सर्व साधारण की पहुँच के बाहर होता। 'प्रसाद' ने, निस्सन्देह, उसके पूर्ण नारीत्व में आदर्श सती का चित्र अंकित किया है।

सुरमा

कान्यकुब्ज देश की मालिन सुरमा एक साधारण रमणी होते हुए भी स्वास्थ और सौन्दर्य से समन्वित तथा विलास और वैभव की मदिर आकांक्षाओं से, आरम्भ ही से, अनुप्राणित है। उसकी महत्वाकांक्षा-पूर्ण विलास-भावना का परिचय, उसके नाटक में प्रवेश करते ही, प्राप्त होजाता है। वह शान्तिभिक्षु से कहती है —"विश्वास करो! मैं आजीवन किसी राजा की विलास मालिका बनाती रहूँ—ऐसा मेरा अदृष्ट कहे तो भी मैं मान लेने में असमर्थ हूँ। मेरे प्राणों की भूख, आँखों की प्यास, तुम न मिटाओगे?"

सुरमा, स्वभाव से चंचल एवं विवेकहीन है। रूप और यौवन की भावना में उन्मत्त, वह अपने विलासमय मदिर नेत्रों से अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों की वाह्य आकृति और कपटपूर्ण उक्तियों का वास्तविक स्वरुप नहीं पहिचान पाती अतः वह अपने उद्दाम वासनाओं की आँधी में अनिश्चित भाव से इधर उधर भटकती रहती है। सुरमा,शान्तिभिक्षु को अपने विलास पाश में बाँधना चाहती है, किन्तु वह उसके द्वारा अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति संभव न समझ उसे छोड़कर चला जाता है। सुरमा अपनी नीची किन्तु सुदृढ़ परिस्थिति में स्थिर नहीं रहती।

सुरमा के उपवन में मालवनरेश देवगुप्त के प्रवेश के साथ उसके जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। देवगुप्त विलासी एवं प्रवंचक है। वह सुरमा के रूप और यौवन से प्रभावित हो उसकी ओर आकृष्ट होता है और थोड़ी बातचीत के उपरान्त वह सुरमा के मनोभावों का अध्ययन कर लेता है। सुरमा वालव्यजन बनाती हुई पेड़ की छाया में बैठे हुए देवगुप्त की ओर कनखियों से देखती है।

वह देवगुप्त के साथ बातचीत करती हुई निरन्तर उसकी ओर आकृष्ट होती जाती है और उसे अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करती रहती है। देवगुप्त का साहस बढ़ जाता है। वह सुरमा की रचना और स्वरुप की चाटुकारिता कर उसके प्रति अपना उत्कट आकर्षण व्यक्त करता है। —'अरे तुम्हारा बाल-व्यजन भी बन गया; कितना सुन्दर है! उन कोमल हाथों को चूम लेने का मन करता है—जिन्होंने इसे बनाया।" सुरमा इसके प्रत्युत्तर में 'आप तो बड़े धृष्ट हैं' .....तो अब मैं जाती हूँ।' कहकर अपने कृत्रिम रोष और खीझ तो व्यक्त करती है किन्तु इसके अन्तर में उसके प्रति उसका विलासयुक्त अनुरागभाव छलकता है। वह कृत्रिम रोष प्रदर्शन के उपरान्त ही अपनी पुष्प—रचना लेकर इठलाती हुई जाती है।

सुरमा और देवगुप्त में प्रकृतिसाम्य है। दोनों ही महत्वाकांक्षी और विलासी हैं। दोनों ही कौशल पूर्वक आपस में एक दूसरे पर अपना प्रभाव आरोपित करते हैं। सुरमा एक ओर हाव भाव के प्रदर्शन से अपना रुपजाल देवगुप्त के समक्ष फैलाती है दूसरी ओर वह अपनी निम्न एवं अभावपूर्ण स्थिति के प्रति उसके समक्ष बारम्बार क्षोभ व्यक्त कर उसकी सहानुभूति प्राप्त करना चाहती है। वह देवगुप्त से कहती है—"कष्ट! ओह! कष्टों का तो अभ्यास हो गया है। अभी राज-मन्दिर से हो आई।... मैं उन विभव-विलास के प्रदर्शनों को, उपकरणों को, अपनी दरिद्रता की हंसी उड़ाते देखती हुई, लौट आई हूँ।" छद्मवेषी कामुक देवगुप्त को उसके विषय में इस निर्णय पर पहुँचते देर नहीं लगती कि "कितनी भावनामयी यह युवती है—अवश्य इसके हृदय में महत्व की आकांक्षा है।" वह सुरमा को अपने कार्य्य का उपयुक्त साधन एवं भोग की अनुकूल सामग्री समझ कर उसे अपनी विशेष विश्वासपात्री बनाता है। वह उस पर अपना सम्पूर्ण रहस्य प्रकट कर उसे अपना बना लेता

है। सुरमा इस आकस्मिक भाग्योदय पर आश्चर्य चकित हो जाती है। वह कहती है—"हे भगवान! इतना बड़ा सौभाग्य! नहीं यह मेरे अदृष्ट का उपहास है।" इस भाग्योदय के प्रखर आलोक में शान्तिभिक्षु की स्मृति प्रभात-दीप की भांति सहसा सजग होकर कुछ समय के लिए, नितान्त सुप्त होजाती है। वह सहसा देवगुप्त के समक्ष ही कह उठती है—'परन्तु शान्तिभिक्षु की प्रतीक्षा।' सुरमा प्रत्यक्ष सुख को ठुकरा कर एक काल्पनिक जीवन के पीछे पड़ने वाली नहीं है। शान्तिभिक्षु के प्रति उसके प्रणय में स्थायित्व नहीं है। अतः वह उसे कुछ काल के लिए बरबस भुला देती है।

कान्यकुब्ज में देवगुप्त के साथ सुरमा का विलास एवं वैभव युक्त जीवन उसके लिए परम आह्लादकारी है। विलास उपकरणों की प्रचुरता तथा देवगुप्त की चाटुकारिता से सुरमा आत्मविभोर हो जाती है। वह देवगुप्त से कहती है—"कितनी मादकता इस प्रशंसा में है, प्रियतम! मुझे अपना स्वरुप विस्मृत होता जा रहा है। मेरा यह सौभाग्य ....." 'यौवन, स्वास्थ्य और सौन्दर्य्य की छलकती हुई प्याली, सुरमा कल्पनातीत जीवन को प्रत्यक्ष देखकर आश्चर्य्य सिन्धु में डूबती उतराती सी है———"मैं कहां हूँ? यह उज्जवल भविष्य कहां छुपा था? और यह सुन्दर वर्तमान, इन्द्रजाल तो नहीं? (देवगुप्त का हाथ पकड़कर)—क्या यह सत्य है?" आशातीत सुखों की आकस्मिक प्राप्ति आश्चर्योत्पादक होती है। नाटककार ने सुरमा के चरित्र में उसी मानसिक दशा का परम स्वाभाविक एवं सजीव चित्रण किया है।

देवगुप्त के साथ सुरमा का सुखी जीवन बालुका-भीत के समान है। घटना प्रभंजन के एक झोंके में ही वह भूमिसात हो जाता है। शान्तिभिक्षु की एक ही हुंकार को सुनकर देवगुप्त, सुरमा के बाहुपाश से निकल भागता है। सुरमा विवशता पूर्वक शान्तिभिक्षु का पल्ला पुनः पकड़ती है। उसके साथ उसे न तो विलास-सुख की और न

वैभव की ही प्रचुर प्राप्ति होती है। दस्युराज शान्तिभिक्षु उपनाम विकटघोष के साथ निरन्तर दस्युजीवन व्यतीत करते हुए, हत्या और लूट का अमानुषिक कर्म देखते और उसमें यथावसर योग देते हुए, सुरमा को उस जीवन से क्रमशः विरक्ति होने लगती है। वह अपनी एक स्वगतोक्ति में अपनी इसी मानसिक दशा को व्यक्त करती है—"……मैं कहाँ चल रही हूँ, वही जीवन, किन्तु वह धीर धारा न रही! ठठा कर हँसना, नाचते हुए—स्थिर जीवन में एक आन्दोलन उत्पन्न कर देना, नहीं, यह कृत्रिम है, यह नहीं चलेगा। राज्यश्री को देखती हूँ, तब मुझे अपना स्थान सूचित होता है—पता चलता है कि मैं कहाँ हूँ!"

हृदय के इस सात्विक परिवर्तन के पश्चात् सुरमा शुद्ध-चित्त से आत्मापराधों के लिए दण्ड-याचना करने के लिए राज्यश्री और हर्ष के समक्ष जाती है। राज्यश्री अपनी पुनीत करुण-निर्झरिणी से उसे अभिसिञ्चित करती है और फिर उसे काषाय पहना कर उसे जीवन के श्रेय-पथ का पथिक बना देती है।

सुरमा का जीवन परिवर्तनपूर्ण है। वह जीवन के अनेक उतार चढ़ाव पार करती हुई श्रेय-पथ का अवलम्बन प्राप्त करती है। किन्तु उसके जीवन का प्रत्येक परिवर्तन स्वाभाविक दिशा की ओर है। उसकी वैभव और विलास की आकांक्षा संस्कारजन्य अवश्य है, किन्तु वह अपने प्रणय-भाव में सर्वथा स्थायित्वहीन नहीं है। शान्तिभिक्षु की उपेक्षा से विवश होकर ही वह देवगुप्त के आश्रय में आती है। देवगुप्त भी जब उसे नितान्त निराश्रित दशा में छोड़ देता है तभी वह शान्तिभिक्षु का पल्ला पकड़ती है। उसमें एक यह भी विशेषता है कि वह जिसके आश्रय में रहती है उसकी वह पूर्ण विश्वासपात्री सिद्ध होती है और उसका अनुगमन वह यथार्थ रूप में करती है। देवगुप्त उसके स्वभाव की इसी विशेषता को लक्षित कर उससे अपना रहस्य व्यक्त करता है और शान्तिभिक्षु उसे राज्यवर्धन की हत्या में अपनी सहकारिणी बनाकर ले जाता है।

शान्तिदेव उर्फ विकटघोष

शान्तिदेव 'राज्यश्री' नाटक का एक असाधारण पात्र है। वह महत्वाकाँक्षा से प्रेरित होकर संसार में वैभव और यश प्राप्त करने के लिए अपनी उच्च एवं सुदृढ़ स्थिति से क्रमशः नीचे की ओर आता जाता है और उसमें क्रूरता, कठोरता स्वार्थांधता आदि पूर्ण रूप से अधिष्ठित हो उसके व्यक्तित्व को—वेश और व्यवहार दोनों दृष्टियों से—समाज विरोधी बना देते हैं।

शान्तिदेव का पिता उसे प्रारम्भ में ही भिक्षु-संघ में धार्मिक जीवन व्यतीत करने लिये भेज देता है। किन्तु उसकी संस्कार-जन्य मनोवृत्तियाँ उक्त जीवन के विपरीत हैं। उसमें भिक्षु जीवन के उपयुक्त आत्मसंयम का अभाव है तथा श्लाघा और आकाँक्षा के पथ पर अग्रसर होने के लिए उसके हृदय में आतुर अभिलाषा है। बुद्धि के अपरिपक्व होने के कारण उसमें निर्णयात्मक शक्ति का भी अभाव है। वह स्वयं कहता है—"मूर्ख मैं निश्चय नहीं कर पाता सुरमा या राज्यश्री—मेरे जलते हुए ग्रह—पिण्ड के भ्रमण का कौन केन्द्र है।"

जीवन के प्रथम वेग में शान्तिदेव को केवल रुप का मोह ही आकर्षित नहीं करता। वह रुप के साथ वैभव प्राप्ति की अभिलाषा से सुरमा को भुलावा देकर राज्यश्री के समक्ष अपनी भाग्य परीक्षा देने जाता है। राज्यश्री के अप्रतिम व्यक्तित्व के समक्ष असफल होने पर वह नियति के हाथों में अपने को सौंप देता है—'अच्छा जो नियति करावे।'

मनुष्य विवेक भ्रष्ट होकर जब एक बार कुमार्ग पर चलने को सोच लेता है तो उसके चरित्र का क्रमशः पतन होता जाता है।

नाटककार ने शान्तिदेव के चरित्र में इस तथ्य का निरूपण बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। शान्तिदेव अर्थलाभ के लिए भिक्षु से दस्यु बन जाता है। अर्थ लोलुपता उसे नर से नरपिशाच बना देती है। वह अर्थ लोभ से राज्यश्री के अपहरण की चेष्टा करता है, राज्यवर्धन की हत्या करता है, सुएनच्वांग भिक्षु यात्री को मार्ग में लूटने का प्रयत्न करता है और अन्त में अपना सर्वस्वदान करने वाले हर्षवर्धन पर भी वह हाथ साफ करना चाहता है। उसकी निर्दयता कठोरता आदि पाशव वृत्तियाँ उसमें क्रमशः बढ़ती ही जाती है। हत्या और लूट उसके लिए प्रयत्न साध्य नहीं रहते वरन् उसके स्वभाव धर्म बनजाते है। उनमें उसे आनन्द की अनुभूति होती है। वह सुरमा से कहता है—"अब तो मैं रक्त देख कर अत्यन्त प्रसन्न होता हूँ।" उसकी आकृति भी उसके आचरणों के अनुरूप हो जाती है। नरेन्द्रगुप्त उसे देख कर तत्काल कहता है —"स्पष्ट रक्त और हत्या का उल्लेख तुम्हारे ललाट पर है।"

शान्तिदेव केवल अपने सुख और उन्नति का अभिलाषी है। आत्मोन्नति एवं सुख के लिए वह सब कुछ करने को तैय्यार रहता है। विकटघोष नामधारी दस्यु शान्तिदेव स्वय कहता है—'सच बात तो यह है कि मुझे अपने सुख के लिए सब कुछ करना अभीष्ट है।" वह पतन के मार्ग पर एक बार पैर रखकर उसकी सीमा तक जाने को प्रस्तुत होजाता है। वह सुरमा से कहता है—पतन की सीमा तक चलें, सुरमा बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं।"××××××यदि कुछ ऐसा कर सकूं कि वह(संसार)मुझे देखे, मेरी खोज करे,तब तो सही।" शान्तिदेव आगे चलकर सुरमा से अपने इसी मनोभाव की पुष्टि में कहता है—'अब शील संकोच का डर मुझे नहीं भयभीत कर सकता। यहाँ तक बढ़ आने पर लौटना असंभव है।" शान्तिदेव के इन कथनों में उसके मन की पतनोन्मुख दशा तथा निम्नकोटि की मनोवृत्तियों की ओर उसका वेगपूर्ण प्रवाह व्यक्त होता है। वह जीवन के

महत्वपूर्ण निश्चय के अनुसार आचरण करता हुआ अपने समय का महान आतंककारी एवं समाजशत्रु सिद्ध होता है।

शान्तिदेव का चरित्र अधिकाँश में पतनोन्मुख तो अवश्य है किन्तु यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि वह जिस दस्युवृत्ति को अपने जीवन में ग्रहण करता है उसके अनुरूप उसमें कार्य्य-पटुता साहस एवं दृढ़ता है तथा इसके साथ ही उसकी आकृति एवं शारीरिक गठन, कार्य्य सिद्धि में उसके सहायक है। उसके लम्बे चौड़े हाथ पैर और कर्कश कण्ठ, दस्यु समाज को उसके दस्युराज होने की प्रतीति करा देता है। उसकी भयानक दाढ़ी और बिच्छू की डंक सी मूंछ, मालवराज सहचर मधुकर को भयविकम्पित कर देती है और वह, शान्तिदेव उपनाम विकटघोष की कार्य्य सिद्धि में विवशतापूर्वक सहायक हो जाता है।

शान्तिदेव निर्भीक और महासी है। वह दस्युदल की वार्ता को अर्धसुप्तावस्था में सुनकर अपना कर्तव्य निर्धारित कर लेता है अपनी वाक्चातुरी से दस्युदल का अधिनायक बन जाता है। अनुभवी सेनापति भण्डि भी उसकी साहसपूर्ण वार्ता से प्रभावित हो उसे पंचनद गुल्म में सम्मिलित करलेता है। शान्तिदेव के पुरुषार्थी व्यक्तित्व को पहिचान कर नरेन्द्रगुप्त उसे अपने कार्य्य साधन का उपयुक्त पात्र निर्धारित करता है। उसमें कार्य्य-कुशलता और पुरुषार्थ पूर्ण उन्नत अवस्था में है। संस्कारवश उनका उपयोग वह आदर्श विरोधी मार्ग में करता है।

शान्तिदेव के जीवन का अन्तिम परिवर्तन आकस्मिक है। हर्षवर्धन के प्राण लेने की चेष्टा में असफल होने पर तथा बन्दी हो जाने पर आत्मग्लानि उसे सहसा आक्रान्त कर लेती है। वह हठात् चिल्लाने लगताहै—"मेरे वध की आज्ञादीजिए। ओह! प्राण जल रहे हैं रोम-रोम से चिनगारियां निकल रही हैं.....दण्ड! दण्ड! हे भगवान्।" शान्तिदेव के उक्त कथन के पूर्व राज्यश्री की क्षमा-

शीलता और हर्षवर्धन की उदारता का निदर्शन है और नाटककार ने आदर्शों की प्रभविष्णुता व्यक्त करने के लिए ही मानो शान्तिदेव में आकस्मिक परिवर्तन चित्रित किया है। किन्तु वह मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल नहीं प्रतीत होता। यश एवं वैभव की आकाँक्षा से पतन की चरम सीमा तक दौड़ लगाने वाला तथा हत्या और लूट से नित्य मनोरंजन करने वाला व्यक्ति जीवन की एक ही ठोकर लगने पर एकदम विवेकयुक्त और सात्विक बुद्धिसम्पन्न हो आत्मग्लानि की अभिव्यक्ति करने लगे, यह सामान्य जीवन में अनहोनी सी बात है।

देवगुप्त

मालव-नरेश देवगुप्त कामुक, और कुचक्री है। वह कान्यकुब्ज में ग्रहवर्मा की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर षड़यन्त्र द्वारा उसे हस्तगत कर लेता है। छद्मवेष में अपने बहुसंख्यक साथियों सहित किसी अरक्षित स्थान पर पहुँच कर उसे आकस्मिक आक्रमण द्वारा आत्मसात करलेना क्षत्रियोचित वीरता के प्रतिकूल है। वह स्थाणीश्वर और कान्यकुब्ज दोनों को एक साथ ही ध्वंस करने की डींग तो अवश्य हाँकता है किन्तु उक्त कार्य्य सम्पादन की न तो उसमें यथेष्ट शक्ति है और न साहस ही।

देवगुप्त के चरित्र में विलासिता और कामुकता का निदर्शन विशेष है। वह कान्यकुब्ज में कौशल से राज्य प्राप्त करने आता है। किन्तु एक सामान्य मालिन सुरमा के सौन्दर्य्य पर अनुरक्त हो उसे वह अपनी प्रणयिनी बना लेता है। उसका यह कार्य्य उसकी राजकीय प्रतिष्ठा के सर्वथा विपरीत है। उसकी विलास भावना सुरमा को ही अपनाकर सन्तुष्ट नहीं होती। वह राजश्री को भी अपने भोग की सामग्री बनाना चाहता है। सुरमा के प्रति देवगुप्त का प्रेम केवल रूप-मोह प्रेरित है। वह सुरमा के समक्ष अपने विलासी हृदय का परिचय देता हुआ कहता है—'तुम यौवन, स्वास्थ्य और सौन्दर्य्य की छलकती हुई प्याली हो—पागल न होना ही आश्चर्य्य है।' वह युद्ध और संघर्ष को आसन्न देखकर भी सुरा और सुन्दरी के सेवन द्वारा कालयापन करता है;—"आज सुरमा! अच्छी तरह पिला दो। कल तो मुझे भयानक युद्ध के लिए प्रस्तुत होना है। तुम कितनी सुन्दर हो सुरमा!" देवगुप्त के इस कथन से उसकी घोर विलासी प्रकृति का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है।"

देवगुप्त क्रूर और कायर है। राज्यश्री जब उसके घृणित प्रणय-प्रस्ताव को ठुकरा देती है तब वह उसे बन्दी-गृह में डलवा देता है। विकटघोष की हुँकार पूर्ण एक ही घुड़की से देवगुप्त के देवता कूच कर जाते हैं और वह सुरमा को निराश्रित दशा में ही छोड़ कर वह भाग खड़ा होता है। राज्यवर्धन के साथ द्वन्द्व युद्ध में उसका पराजित होकर मृत्यु प्राप्त करना आश्चर्य्योत्पादक नहीं है। देवगुप्त का चरित्र आदर्शों के सर्वथा प्रतिकूल है अतः उसका अन्त तदनुसार स्वाभाविक है।

हर्षवर्धन

अन्तिम भारतीय सम्राट हर्षवर्धन के जीवन का आंशिक चरित्रांकन 'राज्यश्री' नाटक में है। चरित्र—विस्तार के अभाव में उसे हम नाटक का नायक तो सर्वथा नहीं स्वीकार कर सकते किन्तु नाटक के अन्य पुरुष पात्रों की अपेक्षा हर्षवर्धन के चरित्र में ही नाटककार ने अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा अधिक मात्रा में की है। उसके चरित्र में वीरता एवं उदारता का सुष्ठु सामञ्जस्य है। विदेशी आक्रमणकारी हूणों को विताड़ित कर समस्त उत्तरापथ को वह अपने आधीनस्थ करता है। वह दक्षिणापथ विजय करने के लिए अग्रसर होता है किन्तु उसे वीर चालुक्य के समक्ष आंशिक पराजय मिलती है और वह चालुक्य नरेश पुलकेशिन से सन्धि करके प्रसन्नतापूर्वक अपनी राजधानी में लौट आता है। हर्ष की राज्य—विस्तार भावना अधिकार सुख प्रेरित नहीं है। वह हत्या और लूट के व्यवसाय द्वारा अपना कोष भरने वाला नहीं है। वह अपने दिग्विजय में भारतीय आदर्श को ही सामने रखता है। पुलकेशिन के समक्ष वह इसी बात को बड़ी सरलता और स्पष्टता के साथ व्यक्त करता है—'मुझे साम्राज्य की सीमा नहीं बढ़ानी है।" वह राज्य विस्तार की अपेक्षा शासन सुव्यवस्था को राज्यधर्म का प्रमुख अंग मानता है। उसकी यह निश्चित धारणा है कि—"यदि इतने ही मनुष्यों को सुखी कर सकूँ—राजधर्म पालन कर सकूं; तो कृतकृत्य हो जाऊंगा।" फिर भी मगध सम्राटों की दुर्बलता से अरक्षित उत्तरापथ की हूणों से रक्षा करना तथा कामरूप से लेकर सुराष्ट्र तक और काश्मीर से लेकर रेवा

तक एक सुव्यवस्थित राष्ट्र की स्थापना करना, उसके प्रबल पराक्रम और वीरत्व के परिचायक हैं। उसकी वीरता की सराहना उसके विरोधी भी करते हैं। पुलकेशिन स्वयं कहता है—"उत्तरापथेश्वर अभी मुझे अपनी वीरता की परीक्षा देनी है, क्योंकि विदेशी हूणों को विताड़ित करने वाले महावीर हर्षवर्धन के अस्त्र का आज ही सामना है।"

हर्षवर्धन की उदारता उसकी वीरता से भी अधिक महत्वपूर्ण है। राज्यश्री के सम्पर्क में आने से उसका समस्त वीरोन्माद दूर हो जाता है तथा प्रतिहिंसा से प्रेरित होकर लाखों प्राणों का संहार करने वाला हृदय नवनीत की भाँति निर्मल और कोमल हो जाता है। इस इन्द्रजाल की महत्ता में जीवन की लघुता का मान होने पर तो वह 'राजा होकर कंगाल बनने का अभ्यास' करने के लिए कटिबद्ध होजाता है। राज्यश्री की अपूर्व उदारता, क्षमाशीलता एवं तात्विक बुद्धि के समक्ष उसे नतमस्तक होकर अपना भ्रम स्वीकार करना पड़ता है। हर्षवर्धन के चरित्र में वैराग्य की प्रतिष्ठा आकस्मिक नहीं है। सात्विक वृत्तियों के बीज उसके हृदय में संस्कारजन्य रूप में हैं। पुलकेशिन के समक्ष उसकी वार्तालाप में ही उनका आभास प्राप्त होजाता है। राज्यश्री के पावन व्यक्तित्व की छाया में उनका सम्यक् स्फुरण और विकास होता है। शस्त्रबल एवं पराक्रम से प्राप्त समस्त राजकीय सम्पत्ति और ऐश्वर्य्य पात्रों को लौटाकर हर्षवर्धन भारत-सम्राट के पद से भी बढ़कर भारत-हृदय-सम्राट पद को प्राप्त करता है। उसके अपूर्व त्याग, उदारता और दानशीलता से विदेशी यात्री सुएनच्वांग अत्यन्त प्रभावित होता है और वह मुक्तकंठ से उसकी सराहना करते हुए कहता है—"यह भारत का देव दुर्लभ दृश्य देखकर सम्राट! मुझे विश्वास हो गया कि यही अमिताभ की प्रसव-भूमि हो सकती है।"

राज्य-सुख के प्रति पूर्ण वैराग्य भाव के जाग्रत होने पर भी हर्षवर्धन में न्यायबुद्धि एवं लोक-सेवा भाव का सर्वथा लोप नहीं होता। श्रमण के प्राण लेने के षड़यन्त्र का समाचार पाते ही वह भावुकता प्रेरित उदारता का परित्याग कर विवेकाश्रित न्याय बुद्धि का आश्रय लेता है और तुरन्त आज्ञा देता है—"जाओ डौंड़ी पिटवा दो कि यदि महाश्रमण का एक रोम भी छू गया तो समस्त विरोधियों को जीवित जलाना पड़ेगा।" इसी प्रकार समस्त दान करने के उपरांत वह लोक सेवा एवं धर्मराज्य का शासन करने के लिए ही राजमुकुट और दन्ड ग्रहण करता है।

राज्यवर्धन

राज्यवर्धन अपनी वंश-परंपरा के अनुरूप पराक्रमी, साहसी, ऊर्जस्वित एवं प्रभावशाली है। कार्य्यतत्परता और आत्मविश्वास की दृढ़ भावना से वह कोई कार्य्य असाध्य नहीं समझता। वह अपनी धुन का पक्का है। आत्मीय मौखरी ग्रहवर्मा की छलपूर्वक हत्या और उनके राज्य पर षड़यन्त्र द्वारा अधिकार करने वाले के प्रति उसका सहज वीर दर्प सचेष्ट हो उठता है और उक्त अन्याय का प्रतिकार करने के लिए वह समस्त साधनों को एकत्रित कर कटिबद्ध होजाता है। जब तक कार्य्य सिद्धि नहीं होती तब तक उसका चित्त स्थिर नहीं होता। वह नरेन्द्र गुप्त से कहता है—'अपने इन दुर्वृत्त वैरियों से बदला लेना और तुरन्त दन्ड देना मेरे जीवन का प्रथम कार्य्य है। अपने बाहु बल से प्रतिशोध न लेकर चित्तको संतोष देना मेरा काम नहीं।' राज्यवर्धन का पराक्रम और रण कौशल उसके स्वभाव एवं उक्तियों के अनुरूप है। वह पंचनद से हूणों को विताड़ित करता है और उदितराज को आधीनस्थ करता है। गौड़ेश्वर नरेन्द्र उसकी वीरता और पराक्रम से आतंकित हो बाह्य रूप से उससे मैत्री रखता है। मालव नरेश देवगुप्त की नीचता का अंत उसकी एक टक्कर से ही होजाता है। राज्यवर्धन महोदय दुर्ग को घेर कर द्वन्द युद्ध में देवगुप्त को मार डालता है। राज्यवर्धन में आत्मविश्वास प्रचुर रूप में है। साहस और पराक्रम के लिए आत्मविश्वास परम आपेक्षित गुण है। वह नरेन्द्र से कहता है—"राज्यवर्धन वह राख की ढेर नहीं, जो शत्रु सुख के पवन से धधक न उठे। यह ज्वाला है, उत्तरापथ को जलाकर शान्त होगी।"

राज्यवर्धन वीर होने के साथ ही उदार भी है। किन्तु उसकी उदारता ही उसकी प्राणघातक सिद्ध होती है। दुर्नाम नीच नरेन्द्र आनन्दोत्सव में राज्यवर्धन को निमन्त्रित कर विकटघोष एवं सुरमा द्वारा छलपूर्वक उसकी हत्या करवा देता है। वस्तुतः जीवन के प्रथम भाग में राजवर्धन के पराक्रम एवं ऊर्जस्विता देखकर उसके उज्जवलतम भविष्य की कल्पना सहज ही होजाती है। नाटक में अंकित उसका चरित्र यद्यपि परिमाण में अत्यल्प है किन्तु वह अत्यन्त सजीव एवं प्रभावोत्पादक है।

———

चन्द्रगुप्त

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक का नायक चन्द्रगुप्त है। वह अत्यन्त धैर्य्यवान, साहसी, पराक्रमी, वीर और उदार है। उसके चरित्र का विकास नाटक में बड़े क्रम से हुआ है। कुल-मर्य्यादा की रक्षा के लिए वह धैर्य्य और उदारता पूर्वक अपना सर्वस्व त्याग और बलिदान करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहता है। वह अपने समस्त बाह्य और आन्तरिक विरोधियों पर विजयी होता है। नाटक के अन्त में उसको सम्पूर्ण नाटकीय फल—राज्य और नाटक की नायिका ध्रुव-स्वामिनी—की प्राप्ति होती है। अतः चन्द्रगुप्त ही नाटक का नायक है।

गुप्त-वंश के गौरव-रक्षा की भावना चन्द्रगुप्त के अन्दर सर्वोपरि है। पारिवारिक कलह मिटाने के लिए वह आरम्भ में पिता द्वारा दिए हुए उत्तराधिकार की उपेक्षा कर देता है और अपने भाई रामगुप्त को सरलता से उस पद पर प्रतिष्ठित हो जाने देता है। इतना ही नहीं वरन् वह अपनी वाग्दत्ता पत्नी ध्रुवस्वामिनी के वरण के लिए भी बलप्रयोग नहीं करता। सहोदर के प्रति इतना बड़ा त्याग उसके उच्च शील और अनुपम धैर्य्य का परिचायक है।

चन्द्रगुप्त केवल पारिवारिक शान्ति का उपासक नहीं है वरन् वह कुल-कीर्ति का भी सतत अभिलाषी है। अतः जब उसे वह कुल-कीर्ति अस्थिर होती प्रतीत होती है तथा राजनैतिक शान्ति के नाम पर कुल-गौरव एवं नारी—सम्मान के समर्पण की बात उसके सामने आती है तो उसका पुरुषार्थ, पराक्रम, स्वाभिमान और ममत्व, सभी सजग हो उठते हैं और तभी उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रकट होता है। वह ध्रुवस्वामिनी से पूर्ण आत्मविश्वास के साथ कहता है—"यह नहीं हो सकता! महादेवि! जिस मर्य्यादा के लिए—जिस महत्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राजदण्ड ग्रहण न करके अपना

मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया उसका यह अपमान ! मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पददलित होना न पड़ेगा।"

एक बार कर्तव्य निर्धारित कर उस पर आरूढ़ रहने और अग्रसर होने की निर्भीकता और क्षमता चन्द्रगुप्त में पर्य्याप्त है। वह रामगुप्त के सामने ही शिखरस्वामी को ललकारता है—'अमात्य, तभी तो तुमने व्यवस्था दी है, कि महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय ! क्यों यही तो विनय की पराकाष्ठा है ! ऐसा विनय प्रवञ्चकों का आवरण है जिसमें शील न हो।' कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ हो वह लक्ष्य प्राप्ति के लिये प्रत्येक सम्भव उपाय का अवलम्ब लेने में नहीं हिचकता। वह ध्रुवस्वामिनी के कृत्रिम वेश में शकराज के अन्तःपुर में प्रविष्ट हो जाता है और वहाँ अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट कर वह शत्रु को ललकारता है—"मैं हूँ चन्द्रगुप्त, तुम्हारा काल ! मैं अकेला आया हूँ, तुम्हारी वीरता की परीक्षा लेने के लिए।" ध्रुवस्वामिनी भी चन्द्रगुप्त के साथ शकराज के यहाँ चरम प्रतिकार के लिए जाती है किन्तु चन्द्रगुप्त को शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए ध्रुवस्वामिनी की किञ्चित अपेक्षा नहीं है। वह उसके विरोध को ठुकरा कर ही उसके साथ वहाँ जाती है। कुलसम्मान-रक्षा की तरह नारी-सम्मान रक्षा के लिए भी वह सदैव कटिबद्ध रहता है। पराक्रमी और शक्तिसम्पन्न होते हुए भी वह अपने भाई रामगुप्त की आज्ञा के अनुसार अपने को लौह-शृंखलाबद्ध तो करवा लेता है किन्तु उसी परवशता में जब उसके समक्ष ध्रुवस्वामिनी का खुला अपमान होने लगता है—वह बन्दी की जाने लगती है; तब चन्द्रगुप्त के विनय और धैर्य्य का बाँध टूट जाता है और वह लौह—शृंखलाओं से अपने को मुक्त करता हुआ अन्यायियों को ललकारता है। वह शिखरस्वामी से कहता है—"तुम्हारी नीचता अब असह्य है। तुम अपने राजा को लेकर इस दुर्ग से

सकुशल बाहर चले जाओ।" वह रामगुप्त को भी न्याय के लिए पुकारता है—"आज तुम राजा नहीं हो। तुम्हारे पाप प्रायश्चित्त की पुकार कर रहे हैं। न्यायपूर्ण निर्णय के लिए प्रतीक्षा करो और अभियुक्त बनकर अपराधों को सुनो।"

चन्द्रगुप्त स्वभावतः गम्भीर और शान्तिप्रिय है। शकराज को पराजित करने के बाद भी वह राजनीतिक प्रपञ्चों में नही पड़ना चाहता और वह बिना अपने अधिकारों की माँग किए चुपचाप हट जाना चाहता है। वह राजत्याग के रूप में प्रदर्शित अपनी अनुपम उदारता का पुरस्कार बन्दी की सी दशा प्राप्त करता है; 'प्रत्येक क्षण उनके प्राणों पर सन्देह करता है', किन्तु वह इससे विचलित नहीं होता। वह वस्तुतः कुल मर्य्यादा एवं नारी के सम्मान की रक्षा के लिए ही संघर्ष में पड़ता है। यह उसके चरित्र की एक बड़ी महत्वपूर्ण बात है कि जितना ही वह शान्त, गम्भीर और उदार है, वह अवसर पड़ने पर उससे कहीं अधिक निर्भीक वक्ता, कठोर नियामक और दृढ़व्रती हो जाता है।

चन्द्रगुप्त का अभ्यन्तर जिस प्रकार उदात्त गुणों का अधिष्ठान है उसी प्रकार उसका बाह्य भी मनोहर और कमनीय है। वह ध्रुवस्वामिनी की दृष्टि में 'निरभ्रप्राची का बाल अरुण' है। उसका 'विश्वासपूर्ण मुखमण्डल' सभी को अपनी ओर आकृष्ट करने की सहज क्षमता रखता है। उसके शारीरिक सङ्गठन की सुडौलता और सुन्दरता को लक्षित कर ही हिजड़ा उसे स्त्री—वेश धारण करने के लिए सर्वोपयुक्त समझता है। वेश परिवर्तन करने पर तो शकराज भी उसको नहीं पहिचान पाता।

ध्रुवस्वामिनी के प्रति चन्द्रगुप्त का प्रेम प्रथम साक्षात्कार के समय से है। स्वभाव में अत्यन्त गम्भीर होने पर भी वह एक स्थल पर अपना मनोभाव प्रकट ही कर देता है—"मेरे हृदय के अन्धकार में प्रथम किरण सी आकर जिसने अज्ञात भाव से अपना

मधुर आलोक ढाल दिया था.....।" ध्रुवस्वामिनी भी चन्द्रगुप्त के रूप और गुणों के कारण उससे प्रभावित है और हृदय से उसी को चाहती है। दोनों में जिस प्रकार रूप और गुणों की समता है उसी प्रकार दोनों की स्थिति और जीवन विकास का क्रम भी एक ही से हैं। दोनों ही राज्यचक्र में एक साथ पिसते हैं, दोनों ही एक साथ मृत्यु-गह्वर में प्रवेश करने के लिए जाते हैं और अन्त में दोनों ही एक साथ अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा ऊँचा कर जीवन में सुख, शान्ति और सौभाग्य प्राप्त करते हैं। दोनों की ही दुःख सुख की दशाओं में समान स्थिति है। जीवन के आरम्भ में कष्टपूर्ण परिस्थिति का कारण चन्द्रगुप्त का अतिशय विनयाचरण और उदारता है। विनय के आतिशय्य से वह अपनी वास्तविकता भी नहीं व्यक्त करता। परिस्थितियों से विवश होकर वह स्वयं सोचता है—"नहीं, यह शील का कपट, मोह और प्रवञ्चना है! मैं जो हूँ वही तो नहीं स्पष्ट रूप से प्रकट कर सका यह कैसी विडम्बना है।" अनीति के अतिचार से जब वस्तुस्थिति नितान्त विपरीत दिशा की ओर जाती हुई प्रतीत होती है तभी चन्द्रगुप्त अपने वास्तविक स्वरूप को ग्रहण कर राज्य-अधिकार और ध्रुवस्वामिनी प्राप्त करता है।

चन्द्रगुप्त के चरित्र में नाटककार ने व्यक्तित्व की वह तीव्र महत्ता नहीं प्रकट की जो ध्रुवस्वामिनी के चरित्र को प्राप्त है। इसका कारण सम्भवतः यही है कि 'ध्रुवस्वामिनी' एक नायिका प्रधान नाटक है और इस नाते उसकी नायिका ध्रुवस्वामिनी को ओजस्वी व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। उसके समक्ष अन्य पात्रों का चरित्र-गौरव फीका जंचता है। वस्तुतः नाटक के पुरुष पात्रों में सबसे ओजस्वी व्यक्तित्वपूर्ण चरित्र-विकास चन्द्रगुप्त का ही है और नाटककार को इसमें भी यथेष्ट सफलता मिली है।

रामगुप्त

रामगुप्त नाटक का खल-पात्र है। वह कपटाचरण एवं प्रवञ्चना द्वारा अधिकारी व्यक्ति चन्द्रगुप्त के स्थान पर स्वयं ही गुप्त-कुल के राजसिंहासन पर अधिष्ठित हो जाता है और अपने समय की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी ध्रुवस्वामिनी पर अधिकार पा जाता है। नाटक में उसका समस्त कार्य व्यापार विलासिता, धूर्तता, कायरता और क्रूरता की कुटिल-कहानी है। वह उच्च आदर्श हीन है तथा सदैव शिखरस्वामी जैसे धूर्त चाटुकारों के आश्रय से ही अपनी कार्यसिद्धि के उपाय खोजा करता है।

गुप्त-कुल का सिंहासन रामगुप्त अवश्य प्राप्त करता है किन्तु कुल की परम्परागत विशिष्टताएँ उसमें एक भी नहीं है। वह अपना अधिकांश समय सुरा, सुन्दरियों अथवा हिजड़े, बौने, कुबड़े आदि पुरुषत्व विहीन व्यक्तियों के बीच व्यतीत करता है। अन्तःपुर की छलनाओं में पड़ा हुआ, लुक छिपकर बातें तो वह सुनता है पर राज्य के चिन्ताजनक समाचार निवेदित किए जाने की बात सुनकर वह प्रतिहारी को डाँट देता है—"तुमसे मैंने कह न दिया कि अभी मुझे अवकाश नहीं, ठहर कर आना।"

रामगुप्त नितान्त पुरुषार्थ विहीन है। वह दिग्विजय के लिए तो निकलता है पर शकराज द्वारा चारों ओर से घिर जाने की बात सुनकर शत्रु के प्रतिकार की चेष्टा नहीं करता। वह शत्रु के अत्यन्त लज्जाजनक प्रस्ताव को—ध्रुवस्वामिनी के समर्पण को—भी स्वीकार कर लेता है। शत्रु के शिविर में ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त को चेष्टापूर्वक भेज कर वह अपनी बड़ी राजनैतिक विजय मानता है। उसकी राजनीति पोच और प्रवञ्चनापूर्ण है। मन्दाकिनी उसकी राजनीति को लक्ष्य करके ठीक ही कहती है—"वीरता जब भागती है तब उसके पैरों से राजनीतिक छल-छन्द की धूलि उड़ती है।"

चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के प्रति रामगुप्त का व्यवहार बड़ा कृतघ्न और निष्ठुरतापूर्ण है। जिस भाई चन्द्रगुप्त ने उसके लिए राज्यपद और अपनी वाग्दत्ता पत्नी की उपेक्षा कर दी, उसी की हत्या करवाने के लिए वह दिग्विजय का स्वाँग भरता है और अन्त में वह उसे शत्रु-शिविर में बलपूर्वक भेज देता है। शक-शिविर में ध्रुवस्वामिनी के भी जाने की स्पष्ट आज्ञा सुनकर जब चन्द्रगुप्त स्वयं जाना अस्वीकार करता है तो रामगुप्त अधिकारपूर्ण ढङ्ग से उससे वहाँ जाने को कहता है—"नहीं यह मेरी आज्ञा है। सामन्त कुमारों के साथ जाने के लिए प्रस्तुत हो जाओ।" वह स्वार्थान्ध होकर चन्द्रगुप्त को सदैव शङ्काकुल दृष्टि से देखता है; और ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति सहानुभूति का परिचय प्राप्त करने पर तो वह उसे भी अपने स्वेच्छाचारी मार्ग का रोड़ा समझ, निकाल फेंकना चाहता है। ध्रुवस्वामिनी की भर्त्सनाएँ और आर्त-पुकार वह बहरे कानों से सुनता है। समस्त नीति, सदाचार, धर्म आदि की बातों को ताक पर रखकर वह बड़ी निष्ठुरतापूर्वक ध्रुवस्वामिनी से कहता है—"नहीं, नहीं। जाओ तुमको जाना पड़ेगा। तुम उपहार की वस्तु हो। आज मैं तुम्हें किसी दूसरे को देना चाहता हूँ। इसमें तुम्हें क्यों आपत्ति हो।" रामगुप्त की क्रूरता और निष्ठुरता का वह चरम निदर्शन है जब वह पराजित निरीह शकों के साथ देवतुल्य मिहिरदेव और कुसुमसुकुमारी कोमा जैसी बालिका की निर्मम हत्या करवा देता है।

धूर्त एवं चाटुकार शिखरस्वामी के अतिरिक्त रामगुप्त का अपना कोई नहीं है। उसे किसी पर विश्वास नहीं है और उसके दुराचरणों के कारण कोई उसे न तो चाहता है और न हृदय से उसका आदर ही करता है। उसकी क्रूरताओं और कपटाचरणों से अधीर होकर राज्य के परम विश्वासी अनुचर सामन्तकुमार भी उससे विद्रोह कर बैठते हैं। पुरोहित उसके पुंसत्व विहीन कदा-

चारों की कथा सुनकर उसे 'गौरव से नष्ट, आचरण से पतित और कर्मों से राज-किल्विषी क्लीव", घोषित करता है। समस्त परिषद् न्यायपूर्ण दृष्टि से उसके कुकृत्यों का निरीक्षण कर उसके विषय में एक मत से निर्णय देता है—"अनार्य पतित और क्लीव रामगुप्त, गुप्त-साम्राज्य के पवित्र राज्य-सिंहासन पर बैठने का अधिकारी नहीं।"

रामगुप्त की स्वार्थभावना बड़ी प्रबल है और कूटचातुरी में उसकी दुष्ट प्रतिभा बड़ी सचेष्ट रहती है। उसे जैसे ही शक अवरोध की सूचना मिलती है तथा शकराज का प्रस्ताव अवगत होता है, वह तत्काल एक ही चाल से अपने दो विरोधियों—चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी—के अन्त करने और तीसरे शत्रु शकराज को सन्तुष्ट करने की बात सोच लेता है। वह शिखरस्वामी को समझाता है—"शकदूत सन्धि के लिए जो प्रमाण चाहता हो उसे अस्वीकार न करना चाहिए। ऐसा करने में इस सङ्कट के बहाने जितनी विरोधी प्रकृति है उन सब को हमलोग सहज में ही हटा सकेंगे।" "तुम्हारी राजनीतिज्ञता इसी में है कि भीतर और बाहर के सब शत्रु एक ही चाल में परास्त हों।"

दुर्नीति और कायरता की नींव पर अवस्थित अधिकार अल्पकालीन होता है। कुटिल नीति भी पुरुषार्थ और पराक्रम सापेक्ष है। रामगुप्त में उसका सर्वथा अभाव है। सभी ओर से अपराधी और निन्दनीय घोषित किए जाने पर जब रामगुप्त की प्रतिशोध भावना उसे चन्द्रगुप्त की हत्या करने को उत्तेजित करती है तब भी वह शूरों के समान प्रत्यक्ष रूप से नहीं वरन् वामगति से चन्द्रगुप्त पर प्रहार करने की चेष्टा करता है। वह अपनी इस दुश्चेष्टा में एक सामन्तकुमार द्वारा मार डाला जाता है और इस प्रकार नाटकीय कथावस्तु के साथ उसके जीवन का अन्त आदर्श सम्मत है। नाटक के प्रति नायक रूप में उसके चरित्र में नायक विरोधी समस्त दुर्गुणों को चरम उत्कर्ष प्राप्त है।

शिखरस्वामी

शिखरस्वामी गुप्त-कुल का अमात्य है। वह ऐसे उत्तर-दायित्व एवं महत्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होकर भी तदनुकूल व्यवहार नहीं करता। उसकी राजनीतिक प्रतिभा का दुरुपयोग असत्य के समर्थन, प्रवञ्चना, एवं चाटुकारिता के रूप में होता है। वह वस्तुतः रामगुप्त की कुटिल योजनाओं का विधायक है तथा उसी के कण्ठ में कण्ठ मिलाकर सर्वत्र अनीति तथा अन्यायपूर्ण आचरणों को समर्थन एवं प्रोत्साहन देता है।

शिखरस्वामी सबके विरुद्ध रहने पर भी स्वर्गीय आर्य समुद्रगुप्त की आज्ञा के प्रतिकूल राज्यपद प्राप्त करने के लिये रामगुप्त का समर्थन करता है। रामगुप्त की मर्य्यादा एवं नीति-विरोधी बातों को वह समझ कर भी उसका विरोध नहीं करता। सम्भवतः उसमें आत्मबल का भी अभाव है। शकराज को ध्रुवस्वामिनी के दे देने का निश्चय रामगुप्त से सुन कर वह एक बार दबे स्वर में कहता है—"भविष्य के लिए यह चाहे अच्छा हो; किन्तु इस समय तो हमलोगों को बहुत से विघ्नों का सामना करना पड़ेगा।" किन्तु शिखरस्वामी अपने इस विचार पर दृढ़ नहीं रहता और शीघ्र ही रामगुप्त की कूटनीति को सफल बनाने में संलग्न हो जाता है।

रामगुप्त का पादानुसरण करने के कारण शिखरस्वामी में भी प्रथम के समान ही निर्लज्जता, धूर्तता, कुटिलता आदि हैं। वह ध्रुवस्वामिनी के समक्ष बड़ी निष्ठुर निर्लज्जता के साथ उनके शक-शिविर जाने का बलपूर्वक समर्थन करता है। शिखरस्वामी की "राजनीति की दृष्टि से महादेवी का वहाँ जाना आवश्यक है।" उसकी "राजनीति के सिद्धान्त में राष्ट्र की रक्षा सब उपायों से करने

का आदेश है। उसके लिए राजा, रानी, कुमार अमात्य सब का विसर्जन किया जा सकता है; किन्तु राज-विसर्जन अन्तिम उपाय है।" वह दूसरों को तो बतलाता है "विनय गुप्त-कुल का सर्वोत्तम विधान है" पर स्वयं यह व्यवस्था देता है कि "महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय।" राजा और राष्ट्र-रक्षा की दुहाई देकर कुल-परम्परा एवं नैतिक आदर्शों के विरुद्ध कार्यों के लिए सम्मति देना शिखरस्वामी जैसे धूर्त और चाटुकार अमात्य का ही कार्य हो सकता है।

शिखरस्वामी में अवसर एवं परिस्थितियों के अनुकूल बात करने की अपूर्व क्षमता है। ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त एवं सामन्त कुमारों को एकत्रित एवं उन्हें परस्पर रामगुप्त विरोधी बातें करते देखकर वह दर्प द्वारा उन्हें वश में करने की चेष्टा करता है। वह सामन्तकुमारों को डाँटकर कहता है—"चुप रहो! क्या तुमलोग किसी के बहकाने से आवेश में आगए हो? (चन्द्रगुप्त की ओर देखकर) कुमार! यह क्या हो रहा है?" इसी प्रकार वह पुरोहित को धर्मशास्त्रानुमोदित बात स्पष्ट रूप से कहने के कारण घुड़की देता है—"मैं कहता हूँ कि तुम चुप न रहोगे तो तुम्हारी भी यही दशा होगी।" परन्तु जैसे ही चन्द्रगुप्त बन्धनमुक्त हो जाता है और विरोधी पक्ष प्रबल दिखाई पड़ता है कि शिखरस्वामी तत्काल चन्द्रगुप्त से बड़े शान्त और विनीत भाव से समझौते की बातें करने लगता है—"कुमार! इस कलह को मिटाने के लिए हमलोगों को परिषद् का निर्णय माननीय होना चाहिए।" वह कुमार को फुसलाने की भरपूर चेष्टा करता है और बड़े कोमल शब्दों में आदर्श व्यवहार की बात कहता है—"बीती हुई बातों को भूल जाने में ही भलाई है। भाई-भाई की तरह गले से लगकर गुप्तकुल का गौरव बढ़ाइए।" शिखरस्वामी की ये बातें अवसरवादी हैं और इनमें उसके हृदय की कुटिलता स्पष्टरूप से परिलक्षित होती है।"

रामगुप्त का चतुर्दिक विरोध होने के साथ ही जब परिषद् भी उसे अपराधी और राज्य-पद का अनधिकारी घोषित करता है तब शिखरस्वामी रामगुप्त को समझाने की चेष्टा करता है—"परिषद् का विचार तो मानना ही होगा।" वास्तव में शिखरस्वामी ने नाटक भर में यही एक यथार्थ बात कही है। किन्तु इसमें भी रामगुप्त के हित की अपेक्षा आत्मरक्षा की चिन्ता ही विशेष लक्षित होती है। शिखर नहीं चाहता कि समस्त राज्य-चक्र के समक्ष वह भी रामगुप्त के साथ अपराधी सिद्ध हो। सम्भवतः उसके इसी एक सत्य-कथन से उसे अपनी दुर्नीति का कुफल रामगुप्त की भाँति नहीं भोगना पड़ता है अन्यथा वह भी निस्सन्देह उसी का अधिकारी है।

शकराज

शकराज महत्वाकांक्षी, रणकुशल, एवं कूटनीतिज्ञ है पर साथ ही वह क्रूर, दुर्विनीत एवं विलासी प्रकृति का भी है। उसके चरित्र में दुर्गुणों का ही प्राबल्य है अतः उसकी सफलताएँ पराजय में परिणित हो जाती हैं।

शकराज अपने पूर्वजों की भाँति अपने पराक्रम द्वारा शत्रुओं को प्रताड़ित कर प्रतिशोध लेने का अभिलाषी है। पराक्रम पुरुषार्थ सापेक्ष है। अपर के अभाव में पूर्व का निदर्शन असम्भव है। शकराज 'पुरुषार्थ को ही सब का नियामक समझता' है। वह कहता है कि "पुरुषार्थ ही सौभाग्य को खींच लाता है।" वह अपने पुरुषार्थ पूर्ण पराक्रम एवं रणकुशलता द्वारा रामगुप्त की समस्त सेना को गिरि पथ पर रोककर चतुर्दिक अवरोध द्वारा उसके शिविर का सम्बन्ध राजपथ से काट देता है। शत्रु को इस प्रकार विवश कर वह अपनी कूटनीति द्वारा शत्रु पक्ष का धन और जन लेने के साथ ही उसका कुल-गौरव भी हस्तगत करने की योजना प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार एक सेनानी के रूप में वह आंशिक रूप से सफल है।

विलासिता के पङ्क में डूबा हुआ पराक्रम अपना सौन्दर्य खो देता है। इसके साथ ही अनीति के अतिचार से भी पराक्रम महत्वशून्य हो जाता है। शकराज के व्यक्तित्व में विलासिता और अनीति के आधिक्य के कारण उसके पराक्रम का स्वरूप आछन्न हो जाता है। वह सुरा और सुन्दरियों का उपासक है। इतना ही नहीं, वह कोमा जैसी अनुरागिनी बाला की उपेक्षा कर बड़ी अधीरता के साथ ध्रुवस्वामिनी की प्रतीक्षा करता है। ध्रुवस्वामिनी के साथ चन्द्रगुप्त को नारी वेश में देख और उसे यथार्थ में नारी

ही मानकर वह ध्रुवस्वामिनी के अतिरिक्त उसको भी अपनी रानी के रूप में अङ्गीकार करने को प्रस्तुत हो जाता है। शकराज के इन कामुक व्यवहारों को देखने से स्पष्टतया ज्ञात होता है कि उस पर विलासिता का गहरा आवरण है जो उसके पराक्रम को अपनी मोटी चादर में सर्वथा ढक लेता है।

विलासिता की सहजात दुर्वृत्तियां भी शकराज के हृदय पर डेरा डाले हैं। वह क्रूर और दुर्विनीत भी है। वह कोमा के प्रेम-पूर्ण अनुरोध को निष्ठुरता के साथ ठुकरा देता है। कोमा की भावुक प्रेमाभिव्यक्तियाँ उसके राजनीतिक प्रतिशोध की भावना से पाषाणीकृत हृदय को किञ्चित द्रवित नहीं करती। वह अपने आचार्य मिहिरदेव के नीतिपूर्ण निर्देशों को सुनना भी नहीं चाहता। वह बड़े दर्प के साथ मिहिरदेव को प्रत्युत्तर देता है—"बस, बहुत हो चुका! आपके महत्व की भी एक सीमा होगी। अब आप यहाँ से नहीं जाते हैं तो मैं ही चला जाता हूँ।" शकराज के इस कथन से उसकी दुर्विनीतिता भी प्रकट होती है।

शकराज हृदयशून्य व्यक्ति है। वह कोमा के प्रेम का वास्तविक प्रतिदान नहीं करता। कोमा के प्रति उसका प्रेमव्यवहार स्वार्थ और प्रवञ्चना-पूर्ण है। भोली भाली युवती कोमा को अपने वाग्जाल में फाँसकर वह उसका रूप-रस ही लेना चाहता है। कोमा को पूर्णतया अपने वश में कर लेने पर वह अन्य नारी की कामना करता है। प्रेम के वास्तविक स्वरूप एकनिष्ठता को तो वह मानों पहिचानता ही नहीं है।

विलासी और दुराचारी हृदय दुर्बल, भीरु और संशयालु हो जाता है। पुरुषार्थ की डींग हांकने वाला तथा सौभाग्य और दुर्भाग्य को मनुष्य की दुर्बलता के भय मानने वाला शकराज विलासिता और दुराचार के पथ पर चलने के कारण धूमकेतु के दर्शनमात्र से ही भयभीत हो जाता है। वह अमङ्गल की शान्ति

के लिए आचार्य को बुलवाकर उनके कथनानुसार चलने की प्रतिज्ञा करता है तथा कोमा से ही क्षमा प्रार्थना करता हुआ, उसकी सहायता की याचना करता है। निस्सन्देह उसके जीवन की यह दशा बड़ी उपहासास्पद और दयनीय है।

दुराचरण मनुष्य को समस्त गौरवविहीन कर उसके सर्वनाश का पथ ही प्रशस्त करता है। शकराज के जीवन में यह बात पूर्णतया घटित होती है। वह पुरुषार्थ मद से मदान्ध होकर, नीति, सदाचार और सदाशयता की जब तिलाञ्जलि दे देता है तभी उसके पराक्रम का गौरव और सफलता उससे एक साथ कोसों दूर भाग जाती है और वह सर्वनाश के महान अन्धगर्त में सदा के लिए जा पड़ता है। चन्द्रगुप्त द्वारा उसका वध उसकी दुर्नीति एवं दुर्वृत्तियों का चरम प्रतिकार है।

मिहिरदेव

आचार्य मिहिरदेव की महिमामयी तेजस्वी मूर्ति का साक्षात्कार नाटक में एक ही स्थल पर विशेष रूप से होता है। किन्तु फिर भी दार्शनिक-बुद्धि से उसकी जीवन-परख, निर्भीकता एवं उसका सरल प्राकृतिक जीवन-अनुराग उसके व्यक्तित्व की अमिट छाप को सामाजिकों के हृदय पर डाल जाते हैं।

मिहिरदेव आचार्य है। वह केवल नाम का ही आचार्य नहीं है वरन् उसमें सूक्ष्म दार्शनिक बुद्धि, सदाशयता, सिद्धान्त कथन की स्पष्टवादिता और स्वतन्त्र निर्भीकता है। उसे राज्य सम्पर्क प्राप्त है किन्तु उसे राज्याश्रय की अपेक्षा एवं आकांक्षा नहीं है। वह शकराज के द्वारा धर्माचार्य के रूप में सम्मानित है। अतः वह उसे बड़ी स्पष्टता के साथ नीतिमय उपदेश देता है—'राजनीति के पीछे नीति से भी हाथ न धो बैठो जिसका विश्व-मानव के साथ व्यापक सम्बन्ध है। राजनीति की साधारण छलनाओं से सफलता प्राप्त करके क्षणभर के लिए तुम अपने को चतुर समझ लेने की भूल कर सकते हो। परन्तु इस भीषण संसार में एक प्रेम करने वाले हृदय को खो देना, सबसे बड़ी हानि है। शकराज! दो प्यार करने वालों के हृदय के बीच एक स्वर्गीय ज्योति का निवास है।" उसके कथनों में पाण्डित्य, जीवन की परख और निर्भीक मुखरता है। वह ललकार कर शकराज से कहता है—"सावधान होकर उसके परिणाम को सोच लो।" शकराज के व्यवहारों से ज्योंही वह यह अनुभव करता है कि उसे उससे सहानुभूति न मिलेगी वह तत्काल प्रकृति के निर्मुक्त अङ्क में उसकी शाश्वत उपासना के लिये प्रस्तुत हो जाता है। वह कोमा से कहता है "हम लोगों को लताओं, वृक्षों और चट्टानों से छाया और सहानुभूति मिलेगी। इस दुर्ग से बाहर चल।"

सरल जीवन में ही दार्शनिक बुद्धि का बहुधा उदय और प्रसार होता है। भारतीय प्राचीन दार्शनिक ऋषियों का जीवन-वृत्त इसका उदाहरण है। वाल्मीकि, व्यास, पातञ्जलि आदि भारतीय ऋषि प्रकृति की शान्त गोद में बैठे हुए मानव-जीवन का दर्शन कर उसकी गुत्थियाँ सुलझाते थे। मिहिरदेव आर्य्य ऋषि तो नहीं है पर नाटककार ने उसके रूप में ऋषि जीवन की ही मानों एक झलक दिखाई है। मिहिरदेव के हृदय की विश्रान्ति का स्थल प्रकृति का उन्मुक्त क्षेत्र है। वहीं सम्भवतः उसकी दार्शनिक बुद्धि पल्लवित और विकसित होती है। प्रकृति के लिए उसके हृदय में मानों एक अतृप्त लालसा और सरल जीवन के लिए अखण्ड अनुराग है। वह अपनी पालिता पुत्री कोमा से कहता है—"हमलोग अखरोट की छाया में बैठेंगे—झरनों के किनारे, दाख के कुञ्जों में विश्राम करेंगे। जब नीले आकाश में मेघों के टुकड़े, मानसरोवर जाने वाले हंसों का अभिनय करेंगे, तब तू अपनी तकली पर ऊन कातती हुई कहानी कहेगी और मैं सुनूंगा।"

मिहिरदेव ऐसे सात्विक विचार और आचरण वाले पुरुष का जीवनान्त बड़ी ही दुःखद और शोचनीय स्थिति में हो जाता है। वह कोमा के साथ ध्रुवस्वामिनी के पास शकराज का शव लेने जाता है। वहीं से लौटते हुये, मार्ग में रामगुप्त के आदेश से उसके सैनिक कोमा और मिहिरदेव को शक जाति का होने के नाते क्रूरतापूर्वक मार डालते हैं। कोमा, मिहिरदेव की पालिता पुत्री है। उसपर उसका सहज अनुराग है। उसकी कामना-पूर्ति में मिहिरदेव का शरीर अर्पण कर देना उसके व्यक्तित्व को ऊँचा उठा देता है। परमार्थ हित आत्म बलिदान मानव-जीवन को गौरव प्रदान करता है। इस नाते मिहिरदेव का व्यक्तित्व पूर्णतया गौरव-मण्डित है।

ध्रुवस्वामिनी

'ध्रुवस्वामिनी' रूपक का नामकरण नायिका के नाम पर है। नाटक की अधिकांश घटनाएँ उसी के जीवन का प्रत्यक्षीकरण कराती हैं; तथा नाटक के अन्य प्रमुख पात्र चन्द्रगुप्त, रामगुप्त, शकराज आदि द्वारा उसके चरित्र के विविध स्वरूपों का उन्मेष होता है। उसके चरित्र का विकास-क्रम स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक पद्धति पर है। व्यापार-बाहुल्य की दृष्टि से भी उसका चरित्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। नाटक की फलभोक्ता भी ध्रुवस्वामिनी है। अतः इस नायिका-प्रधान नाटक की नायिका ध्रुवस्वामिनी ही है।

ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में नारी-स्वभाव की कोमलता और सहिष्णुता के साथ ही नारी की आत्मसम्मान भावना का उत्कृष्ट निदर्शन है। एक ओर जहाँ उसमें पुरुष जाति की स्वार्थप्रेरित क्रूरताओं एवं कठोरताओं के सहन करने की अपूर्व क्षमता है वहाँ उसके साथ ही, आत्मगौरव की रक्षा के लिये, प्रखर बुद्धि-वैभव, निर्भीकता और साहस भी उसमें यथेष्ट रूप से है। नाटक के आरम्भ में ही ध्रुवस्वामिनी को हम नितान्त सङ्कटापन्न दशा में देखते हैं। ध्रुवस्वामिनी की प्रथम स्वगतोक्ति में उसकी विषादपूर्ण वाह्य एवं आभ्यंतर परिस्थितियों तथा तज्जन्य चिन्तनाओं का मार्मिक प्रत्यक्षीकरण है। उसे राजकुल में अपने लिए प्रवेशकाल से ही सर्वत्र 'सञ्चित नीरव अपमान' लक्षित होता है। उसे राजकुल में एक भी सम्पूर्ण मनुष्यता का निदर्शन' नहीं मिलता। उसके लिए जिधर देखो 'कुबड़े, बौने, हिजड़े, गूंगे और बहरे' मनुष्य ही हैं।

उसका पति रामगुप्त उसके प्रति सदैव संशयालु रहता है और कभी भी उससे सम्भाषण तक नहीं करता। ध्रुवस्वामिनी अपनी अपूर्व सहिष्णुता से जीवन की इन विषमताओं का धैर्य्यपूर्वक सामना करती है। उसके हृदय की तीव्र भावुक आकांक्षाएँ अकुलाकर मानों सो जाती हैं।

ध्रुवस्वामिनी के जीवन की इस दयनीय दशा के मूल में उसके दाम्पत्य जीवन की विषमता है। उसका पति रामगुप्त विलासी, मद्यप और क्रूर है। वह ध्रुवस्वामिनी को विविध यातनाओं के बन्धन में डालकर उसके बहुमूल्य जीवन की कदर्थना करता है। निस्सन्देह जिस सहिष्णुता, धैर्य्य और त्याग भावना से ध्रुवस्वामिनी जीवन की इन विषमताओं का सामना करती है वह सर्वथा सराहनीय है और इससे उसके व्यक्तित्व के प्रति सामाजिकों की सहानुभूति स्वतः समुद्भूत होती है।

ध्रुवस्वामिनी शारीरिक एवं मानसिक यन्त्रणाओं को तो धैर्य्य और साहस के साथ सहन कर लेती है किन्तु जब वह यह अनुभव करती है कि उसका आत्मसम्मान एवं सतीत्व दूसरे के पास उपहार स्वरूप, भेजा जा रहा है, तो उसका आत्म-गौरव सहसा सजग हो उठता है। ऐसे कदर्थनीय प्रस्ताव को सुनकर वह एक बार पुनः रामगुप्त से अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए गिड़गिड़ाकर प्रार्थना करती है—"मेरी रक्षा करो मेरे और अपने गौरव की रक्षा करो। राजा, आज मैं शरण की प्रार्थिनी हूँ। .....मैं तुम्हारी होकर रहूँगी। राज्य और सम्पत्ति रहने पर राजा को—पुरुष को—बहुतसी रानियाँ और स्त्रियाँ मिलती हैं; किन्तु व्यक्ति का मान नष्ट होने पर फिर नहीं मिलता।" निष्ठुर रामगुप्त उसकी इस आर्तवाणी को सुनकर भी सुनना नहीं चाहता तथा उसे शकराज के पास भेज देने के सङ्कल्प की दृढ़ता

प्रकट करता करता है। अतः ध्रुवस्वामिनी के पास आत्मबल एवं आत्म-निर्भरता के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसी स्थल पर नाटककार ने आत्म-गौरव की भावना से प्रदीप्त ध्रुवस्वामिनी के व्यक्तित्व का वह भव्य स्वरूप प्रस्तुत किया है जो नारी-जगत के लिए एक गर्व की वस्तु है। वह रामगुप्त को तत्काल ही फटकार कर कहती है—"निर्लज्ज ! मद्यप !! क्लीव !!! ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं ? नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी। मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है। मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्म-सम्मान की ज्योति है। उसकी रक्षा मैं ही करूँगी।" एक बार परिस्थितियों का यथार्थ अनुभव कर जब वह आत्म-गौरव की रक्षा के लिए अपना कर्तव्यपथ निर्धारित कर लेती है तब वह बड़े साहस और बुद्धिमत्ता के साथ उस पर निर्भीक भाव से आगे बढ़ने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। वह पहिले तो छुरी मार कर आत्म-हत्या द्वारा अपने गौरव की रक्षा करने का विचार करती है किन्तु चन्द्रगुप्त के सहसा सामने आजाने के कारण वह उस कठोर कर्म से विरत हो जाती है। चन्द्रगुप्त को सामने देख कर उसके हृदय का मधुर-भाव पुनः सजग होकर उसमें जीवन मोह उत्पन्न कर देता है तथा आत्म-कौशल और बुद्धि-बल से वह विषम स्थितियों का सामना करने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। चन्द्रगुप्त यद्यपि स्वयं अकेले ही शकराज के यहाँ ध्रुवस्वामिनी के वेश में जाना चाहता है किन्तु ध्रुवस्वामिनी एक क्षत्राणी के समान मृत्यु की विभीषिका से किञ्चित भी न डरती हुई स्वयं भी जाने को तय्यार हो जाती है। वह बड़े उत्साहपूर्ण शब्दों में चन्द्रगुप्त से कहती है—"हम दोनों ही चलेंगे मृत्यु के गह्वर में प्रवेश करने के समय, मैं भी तुम्हारी ज्योति बनकर बुझ जाने की कामना रखती हूँ और भी एक विनोद प्रलय का परिहास देख सकूँगी।" वह शक

शिविर में अपने कौशल द्वारा शकराज की हत्या में चन्द्रगुप्त की सहायक होती है।

विपत्तियाँ मानव जीवन की कसौटी हैं। जीवन का मूल्य सङ्कटपूर्ण संघर्षों में सफलता पाने से बढ़ जाता है। संकटों का सामना करने से साहस और आत्मबल की वृद्धि तो होती ही है, साथ ही बुद्धि-व्यापार का भी समुचित विकास होता है। ध्रुवस्वामिनी की स्वाभाविक साहसशीला प्रवृत्ति का विकास आन्तरिक और वाह्य सङ्कटों का सामना करने से तो होता ही है, साथ ही उसका बुद्धि-कौशल भी क्रमशः विकसित हो जाता है। शकराज को विफल मनोरथ कर ध्रुवस्वामिनी अपने बुद्धि-कौशल से सामन्त कुमारों को उत्तेजित करती है। वह उनकी सहानुभूति और सहयोग प्राप्त कर लेती है। वह वाह्य शत्रु को पूर्णतया परास्त करने के पश्चात् अपने प्रति किए गए समस्त अन्यायों का प्रतिकार करने के लिए कटिबद्ध हो जाती है। वह राजपुरोहित के समक्ष अपने वैवाहिक जीवन की कदर्थना मार्मिक शब्दों में व्यक्त करती है और उसकी सहानुभूति प्राप्त करती है। पुरोहित धर्मशास्त्र का अवलोकन कर निष्पक्ष सम्मति देता है—"विवाह की विधि ने देवी ध्रुवस्वामिनी और रामगुप्त को एक भ्रान्तिपूर्ण बन्धन में बाँध दिया है। ..... ऐसी अवस्था में रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नहीं।" ध्रुवस्वामिनी अपने प्रति अन्यायों का प्रतिकार करने के लिए अपने लिए सब ओर से अनुकूल वातावरण प्रस्तुत करने के साथ ही चन्द्रगुप्त को भी अन्यायपूर्ण राजकीय आदेशों का प्रबल प्रतिवाद करने के लिए प्रोत्साहित करती है। वह चन्द्रगुप्त से बड़े उत्तेजनापूर्ण एवं उत्साहवर्धक शब्दों में कहती है—'कुमार! मैं कहती हूँ कि तुम प्रतिवाद करो। किस अपराध के लिये दण्ड ग्रहण कर रहे हो।' निस्सन्देह ध्रुवस्वामिनी के प्रयत्नों से ही रामगुप्त और शिखरस्वामी की कूट-मन्त्रणाओं और कपटाचारों की कलई खुल

जाती है और उन्हें पूर्ण पराभव प्राप्त होता है। नारी अबला होकर भी अपने सम्मान की रक्षा और अन्यायों का प्रतिकार अपने आत्मबल, निर्भीकता और बुद्धिकौशल द्वारा कितनी सफलता के साथ कर सकती है, इसका सफल निदर्शन ध्रुवस्वामिनी के चरित्र विकास में हुआ है।

नाटक में ध्रुवस्वामिनी का जीवन सङ्कटापन्न होने के कारण सतत संघर्षशील है। संघर्षमय जीवन में निरन्तर संलग्न रहने के कारण हमें उसके हृदय की ओजस्विनी एवं पुरुषार्थ प्रेरक प्रवृत्तियों का ही विशेष परिचय प्राप्त होता है। नारी हृदय की भावुक कोमलता का निदर्शन उसके चरित्र में स्वल्प है। उसके हृदय की मधुर भावनाओं का गला मानों उसके उदय काल में ही घोट दिया जाता है। 'निरभ्र-प्राची के बालारुण' के समान चन्द्रगुप्त की दीप्तिमयी मूर्ति के स्थान पर उसका वैवाहिक सम्बन्ध क्लीव कापुरुष रामगुप्त से होता है। रामगुप्त के कठोर नियन्त्रण में अत्यन्त यातनापूर्ण जीवन व्यतीत करने के कारण उसके हृदय का मधुर—श्रांत सूख सा जाता है और वह एक मरुस्थल के समान हो जाता है। चन्द्रगुप्त के प्रति उसके हृदय में सहानुभूति, उत्सुकता एवं ममत्वपूर्ण अनुराग पूर्णतया सन्निहित है किन्तु ध्रुवस्वामिनी के भावुक प्रेमोद्गार केवल एक ही स्थल पर प्रकट होते हैं। चन्द्रगुप्त को शक-शिविर एकाकी जाते हुए देखकर, वह तीव्र ममत्व की भावना से प्रेरित हो उसे अपनी भुजाओं में पकड़ कर कहती है—'नहीं, मैं तुमको न जाने दूंगी। मेरे क्षुद्र, दुर्बल नारी जीवन का सम्मान बचाने के लिए इतने बड़े बलिदान की आवश्यकता नहीं।" इस ममत्व प्रदर्शन में ध्रुवस्वामिनी का प्रेम-भाव ही विशेष झलकता है। चन्द्रगुप्त को इस आलिङ्गन प्रसङ्ग में उसे जो स्पर्शजन्य-सुखानुभूति होती है उसे व्यक्त करती हुई वह स्वगतोक्ति में कहती है—"कितना अनुभूति

पूर्ण था वह एक क्षण का आलिङ्गन ! कितने सन्तोष से भरा था ! नियति ने अज्ञात भाव से मानों लू से तपी हुई वसुधा को क्षितिज के निर्जन में सायंकालीन शीतल आकाश से मिला दिया हो।" वस्तुतः ध्रुवस्वामिनी का जीवन इतना घटना और संघर्ष-पूर्ण है कि नाटकीय कथावस्तु के अन्तर्गत उसके मधुर भाव की अभिव्यक्ति के अधिक अवसर ही नहीं प्राप्त होते। फिर भी नाटककार ने उसके ओजस्वी व्यक्तित्व में उसके हृदय के मधुर पक्ष की भी एक झांकी प्रस्तुत की है जिसके कारण उसका नारीत्व प्रकृत रूप में व्यक्त होगया है। ध्रुवस्वामिनी के चरित्र विकास में पूर्ण स्वाभाविकता है। नाटककार को उसमें पर्ण सफलता मिली है।

मन्दाकिनी

मन्दाकिनी 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की एक सामान्य स्त्री-पात्र है। किन्तु वह अपनी न्याय-बुद्धि, निर्भीकता एवं कार्य-कुशलता से नाटक में महत्वपूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करती है। 'न्याय का दुर्बल पक्ष ग्रहण' करने के लिए ही वह राजनीतिक प्रपञ्चों में पड़ती है। उसमें उसका कोई निजी स्वार्थ नहीं है। इससे उसके स्वभाव की निस्पृहता भी व्यक्त होती है।

नाटक के आरम्भ में ही मन्दाकिनी गूँगी (खड्गधारिणी) का अभिनय अत्यन्त कुशलता के साथ सम्पन्न कर चन्द्रगुप्त के प्रति ध्रुवस्वामिनी के अन्तःस्थित भाव को अवगत कर लेती है। इतना ही नहीं, वरन् वह कुमार के प्रति ध्रुवस्वामिनी के म्रियमाण स्नेह को सचेष्ट भी करती है, और उनके प्रति उसकी सहानुभूति और उत्सुकता सजग करती है। मन्दाकिनी द्वारा कुमार की मानसिक ग्लानि एवं वेदना तथा शारीरिक परवशता का समाचार अवगत कर ध्रुवस्वामिनी हठात् कह बैठती है—"किन्तु उन्हें कोई ऐसा साहस का काम न करना चाहिए जिसमें उनकी परिस्थिति और भी भयानक हो जाय।" ध्रुवस्वामिनी के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति इस प्रकार ममत्वपूर्ण सहानुभूति उत्पन्न करने से मन्दाकिनी की उत्कृष्ट कार्यकुशलता का परिचय मिलता है।

मन्दाकिनी अपने निर्मल विवेक द्वारा व्यक्तियों तथा परिस्थितियों की वास्तविकता यथार्थ रूप से शीघ्र ही अवगत कर लेती है। कुमार चन्द्रगुप्त और रामगुप्त को अपने अन्तःचक्षु से परखती हुई वह स्वगत रूप से यथार्थ ही कहती है—'कुमार चन्द्रगुप्त! कितना समर्पण का भाव है उसमें? और उसका बड़ा भाई रामगुप्त कपटाचारी रामगुप्त!.....' इस प्रकार

मन्दाकिनी परिस्थितियों का यथार्थ रूप से अनुभव कर कृत-सङ्कल्प होती है—'मुझे हृदय कठोर करके अपना कर्त्तव्य करने के लिए यहाँ रुकना होगा।" वह अपनी निर्भीकता एवं कार्यकुशलता से अपना सङ्कल्प पूरा करने में पूर्ण सफल होती है। उसके प्रयास से न्याय का पक्ष विजयी होता है। गुप्त-कुल का पवित्र राज सिंहासन उसके वास्तविक अधिकारी चन्द्रगुप्त को प्राप्त होता है और कपटाचरण एवं अन्याय से उस पर स्वल्प काल के लिये अधिकार कर लेने वाला रामगुप्त पराभव को प्राप्त होता है।

निर्भीकता हृदय की सात्विक प्रेरणा है। निश्छल, निःस्वार्थ एवं न्याय-पथ पर निरन्तर आरूढ़ व्यक्तियों में ही इसका प्रादुर्भाव होता है। मन्दाकिनी के व्यक्तित्व में ऐसी ही निर्भीकता कूट कूट कर भरी है। वह अन्तःपुर की सामान्य परिचारिका होकर भी नीति एवं विवेक सम्मत बात को राजाधिराज के भी सामने स्पष्टता पूर्वक कहने में नहीं हिचकती। वह नाटक के अन्तिम दृश्य में भरी सभा में ललकार कर कहती है—"राजा का भय, मन्दा का गला नहीं घोट सकता। तुम लोगों को यदि कुछ भी बुद्धि होती तो इस अपनी कुल मर्यादा नारी को, शत्रु के दुर्ग में यों न भेजते। × × × × इस परिषद् से मेरी प्रार्थना है, कि आर्य समुद्रगुप्त का विधान तोड़ कर जिन लोगों ने राजकिल्विष किया हो उन्हें दण्ड मिलना चाहिए।" इसके पश्चात् वह समस्त सामन्तकुमारों के सम्मुख रामगुप्त के कपटाचरण एवं किल्विष की वह कलई खोलती है कि सब लोग उसे सुनकर स्तब्ध रह जाते हैं और सबको वास्तविकता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। निस्सन्देह निर्भीकता में मन्दाकिनी, ध्रुवस्वामिनी से किसी दशा में कम नहीं है। न्याय का पक्ष निर्भीकता के अभाव में विजयी नहीं हो सकता, मन्दाकिनी की सफलता के मूल में उसकी निर्भीकता ही है।

मन्दाकिनी का मानों विश्व में अपना कोई नहीं है। उसका सारा जीवन दूसरों की सेवा और सामञ्जस्य विधान में सदैव संलग्न रहता है। उसे ध्रुवस्वामिनी के हृदय में, चन्द्रगुप्त के प्रति स्नेह के सूक्ष्म संकेत ही प्रारम्भ में प्राप्त होते हैं। जब वह आगे की घटनाओं तथा वार्ता—प्रसङ्गों से यह निश्चयपूर्वक अनुभव कर लेती है, कि "निश्चय ही यह कुमार चन्द्रगुप्त की अनुरागिनी है," तब वह उसी उत्साह और कुशलता से चन्द्रगुप्त को ध्रुवस्वामिनी की वास्तविक प्रीति की प्रतीति कराने में तत्पर होती है। वह चन्द्रगुप्त को 'महादेवी बनने के पहिले ध्रुवस्वामिनी का जो मनोभाव था' उसका परिचय कराती हुई अत्यन्त उत्साहपूर्ण वचनों से उन्हें कर्तव्य ज्ञान कराती है—"हृदय में नैतिक साहस—वास्तविक प्रेरणा और पौरुष की पुकार एकत्र करके सोचिए तो कुमार! कि अब आपको क्या करना चाहिए।" निस्सन्देह मन्दाकिनी के प्रयास से ही ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त के पारस्परिक प्रेम-मय जीवन का प्रसार होता है।

मन्दाकिनी के चरित्र सम्बन्धी एक विद्वान आलोचक के इस कथन को एकाङ्गी ही माना जायगा कि 'मन्दाकिनी तो केवल ध्रुवदेवी के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर बोलने वाली उसकी सहचरी मात्र है। उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व है—ऐसा नहीं मालूम पड़ता.....।" व्यक्तित्व-शून्य पात्रों की कल्पना 'प्रसाद' के उर्वर मस्तिष्क में विरल है। सामान्य वर्ग के पात्रों के अन्दर भी उदात्त मानवी गुणों की प्रतिष्ठा कर उन्होंने नाटकीय पात्रों के चरित्र को व्यक्तित्वपूर्ण बनाया है। मन्दाकिनी का चरित्र भी इसी कोटि का है। न्याय-पक्ष की विजय के लिये जो निःस्वार्थ-बुद्धि, निर्भीकता और कुशलता आपेक्षित है उसकी एक बहुत बड़ी मात्रा मन्दाकिनी में है। ध्रुवस्वामिनी की वह सहचरी है। मन्दा की कठोर एवं गम्भीर वाणी से ध्रुवस्वामिनी को बल भी

अवश्य प्राप्त होता है किन्तु इसकी तो अपर को नितान्त अपेक्षा भी है। स्वामिहित चिन्तन और उसके लिए तत्परतापूर्ण प्रयास मन्दाकिनी के व्यक्तित्व को ऊँचा उठा देते हैं। अभिजात्य का अभाव अथवा ममत्व की अभिलाष शून्यता किसी को व्यक्तित्व हीन नहीं ठहरा सकते।

किसी के चरित्र का गौरव अभिजात कुल या उच्च पद पर प्रतिष्ठित होने से ही नहीं होता। वह तो सर्वथा व्यक्ति विशेष के विचारों और कार्यों पर अवलम्बित रहता है। मन्दाकिनी न तो किसी अभिजात कुल की है और न उसे जीवन में उच्च पद ही प्राप्त है। किन्तु उसके चरित्र के उपर्युक्त विवेचना से यह तो स्पष्ट ही है कि उसके विचार न्याय-बुद्धि पर अवलम्बित हैं तथा परमार्थ प्रेरक हैं। वह विचारों के अनुरूप ही निर्भीकता एवं कुशलता से कार्य करती है। उसे अपने लक्ष्य में पूर्ण सफलता भी प्राप्त होती है। अतः उसका चरित्र परम गौरवशाली है।

कोमा

अनुभूतिमयी और दार्शनिक कोमा के चरित्र की कल्पना द्वारा 'प्रसाद' ने एक आदर्श नारी का चित्र प्रस्तुत किया है। नारी स्वभाव की सामान्य दुर्बलता—मोह—के साहचर्य में विवेक, विनम्रता, आत्मसमर्पण, दैन्य, त्याग आदि परम उदात्त सबल गुणों का निदर्शन उसके चरित्र में है। अतः उसका व्यक्तित्व सामाजिकों एवं पाठकों की स्मृति में अमरत्व प्राप्त कर जाने योग्य है।

वह आचार्य मिहिरदेव की पालिता पुत्री है और वह 'उन्हीं की शिक्षा में पली है।' अतः उसका दार्शनिक होना स्वाभाविक है। किन्तु कोमा की दार्शनिकता शुष्क नहीं है। वह जीवन-मधु की अनुभूति से संवलित है। वह अभावमयी लघुता में महत्वपूर्ण दिखाने का अभिनय करना इसीलिए पसन्द नहीं कर सकती क्योंकि उसे 'रूठने का सुहाग' कभी नहीं मिला। इसी कारण उसे 'संसार में बहुत सी बातें बिना अच्छी हुए भी अच्छी लगती हैं, और अच्छी बातें बुरी लगती हैं।" जीवन की इस गम्भीर अनुभूति के मूल में नारी स्वभाव की सहज दुर्बलता मोह या प्रेम है। प्रेम के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान रखते हुए भी वह नारी होने के नाते, उससे अपने को बचा नहीं सकती है। वह जानती है—"प्रेम! जब सामने से आते हुए तीव्र आलोक की तरह आँखों में प्रकाशपुञ्ज उड़ेल देता है, तब सामने की और भी वस्तुएँ अस्पष्ट हो जाती हैं।" किन्तु फिर भी यह समझ कर कि—'प्रेम करने की ऋतु होती है। उसमें चूकना, उसमें सोच समझ कर चलना दोनों

एक बराबर हैं,' वह प्रेम पथ पर अपनी अनन्य भावना से पदार्पण करती है। एक बार प्रेम-पथ का पथिक बनकर उस पर जो 'निराशा, निष्पीड़न और उपहास' उसे मिलते हैं वह आत्मसमर्पण, दैन्य और त्याग के संबल से उन्हें सहती हुई प्रेम सफल निर्वाह करती है और पूर्ण नारीत्व की गौरवमयी झांकी प्रस्तुत करती है।

प्रेम के आलोक से चकाचौंध हो कोमा एक भयङ्कर भूल कर बैठती है। उसके प्रेम का आलम्बन, शकराज, उसके सर्वथा अनुपयुक्त है। वह निष्ठुर, स्वार्थी, विलासी और प्रमादपूर्ण है। कोमा आरम्भ में शकराज की दर्प से दीप्त, महत्वमयी पुरुष मूर्ति को ही देख कर उसकी पुजारिन बन जाती है। स्वार्थी और विलासी शकराज की 'स्नेह सूचनाओं की सहज प्रसन्नता और मधुर आलापों ने' कोमा के 'मन के नीरस और नीरव शून्य में सङ्गीत की, बसन्त की और मकरन्द की सृष्टि की' तथा वह 'अनुभूतिमयी बन गई।' उसे यह आगे चलकर ही विदित होता है कि उसका यह भ्रम था। किन्तु कोमा इस भ्रान्तिशोध के पश्चात् भी न तो प्रेम-पथ से विरत होती है और न उसका विवेक ही कुण्ठित होता है। उसके चरित्र में प्रेम और विवेक का संतुलित चरम निदर्शन है। एक ओर जहाँ वह प्रेम की वेदी पर खड़े होकर आजीवन 'निराशा निष्पीड़न और उपहास' को मूक भाव से सहन करती हुई प्रेमी के शव के साथ शरीर त्याग करती है वहां दूसरी ओर वह प्रेमी के अन्यायपूर्ण कुकृत्यों का यथाशक्ति प्रतिकार करने की चेष्टा भी करती है और उसमें सफल न होने पर वह प्रेमी के आकांक्षा-पथ से स्वयं ही हट जाती है। उसके मानस में मोह और विवेक के बीच एक बार स्वाभाविक संघर्ष होता है। विवेक उसे जीवन का आदर्श पथ संकेतित करता है किन्तु प्रेम की पुष्प शृङ्खला उसे उस पथ पर पैर नहीं बढ़ाने देती। उसके इसी मानसिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति नाटककार ने उसके द्वारा ही बड़े

मार्मिक शब्दों में छाया पद्धति से कराई है—"मैंने जिसे अपने आसुओं से सींचा, वही दुलार भरी वल्लरी, मेरे आँख बन्द कर चलने में मेरे पैरों से उलझ गई है। दे दूं एक झटका—उसकी हरी हरी पत्तियाँ कुचल जांय और वह धूल में लोटने लगे? ना, ऐसी कठोर आज्ञा न दो।" कोमा के अन्तःस्थित इस द्वन्द्व में विजय विवेक की होती है। वह शकराज की दर्पदीप्तिमयी पुरुष मूर्ति के स्थान पर स्वार्थ-मलिन कलुष, से भरी मूर्ति देख कर और उसे आशंका मात्र से कम्पित और भयभीत पाकर उसका पल्ला छोड़ देती है; वह अपने आचार्य का अनुगमन करती है। प्रेमी के पतन में सहायक होकर अथवा उसके अन्यायपूर्ण कुकृत्यों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से योग देकर वह नारी जाति के लिए लज्जा और निन्दा का विषय बन जाती। मोह पर विवेक की विजय आदर्श सम्मत है।

आत्मसमर्पण का उच्च आदर्श अपने जीवन में अपनाकर भी कोमा यथार्थ तथ्य निवेदन में विवेकपुष्ट निर्भीकता का परिचय देती है। वह अपनी स्वाभाविक विनम्रता के साथ शकराज के समक्ष वास्तविक सत्य को स्पष्ट रूप से कहने में नहीं हिचकती—"मेरे राजा! आज तुम एक स्त्री को अपने पति से विच्छिन्न कराकर अपने गर्व की तृप्ति के लिए कैसा अनर्थ कर रहे हो?" इसी प्रकार जब दैन्यपूर्ण भाव से शकराज के शव की प्रार्थना करने पर वह ध्रुवस्वामिनी से उपेक्षिता होती है तब भी उसके सामने वह जीवन का कठोर सत्य कहने में नहीं चूकती—"रानी, तुम भी स्त्री हो। क्या स्त्री की व्यथा न समझोगी, आज तुम्हारी विजय का अन्धकार तुम्हारे शाश्वत स्त्रीत्व को ढंक ले, किन्तु सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीवाली जगती है।....." कोमा अपनी निर्भीक मुखरता में भी मर्यादित और विनम्र है जो उसके उच्चशील

और शिक्षापूर्ण संस्कृति का परिचायक है। प्रेमी के निधन होने पर उसके शव के साथ आत्मविसर्जन द्वारा कोमा ने नारी जाति के गौरवपूर्ण आदर्श-त्याग का चरम स्वरूप प्रदर्शित किया है। कोमा का व्यक्तित्व, भावुक, उदार विवेकयुक्त और त्यागमय है। नारी-जीवन का जो मार्मिक प्रत्यक्षीकरण नाटककार ने उसके चरित्र में कराया है वह सर्वथा स्तुत्य है।

विशाख

विशाख एक सुशिक्षित ब्राह्मण युवक है। वह तक्षशिला में विद्यार्थी जीवन समाप्त कर लौकिक जीवन के क्षेत्र में अवतरित होता है। सद्शिक्षा के प्रभाव से उसमें सहानुभूति, परदुःख-कातरता, गुरुभक्ति, कर्त्तव्यपालन आदि सभी विशिष्ट गुण यथेष्ट रूप से हैं। 'उन्नति के लिए पहली दौड़ लगाने' के पहिले ही वह यह अनुभव कर लेता है कि "यौवन सुख के लिए नहीं है वरन् वह आशामय भावी सुखों के लिए कठोर कर्मों का संकलन है।" अतः जीवन में जो संकट एवं विघ्नबाधाएँ आती हैं वह दृढ़ता से उनका सामना करता है और अपने बुद्धि बल और पुरुषार्थ से वह अपने जीवन को क्रमशः उन्नतिपथ पर अग्रसर करता है।

परदुःखकातरता और सेवाभाव, जो सद्शिक्षा के प्राथमिक निदर्शन है, विशाख के चरित्र में प्रारम्भ से ही स्फुरित हैं। वह 'संसार में पदार्पण करने की प्रतिपदा तिथि में' ही चन्द्रलेखा और इरावती की दारिद्र्य-पीड़ित, सुन्दर किन्तु मलिन आकृतियों को देखकर सहानुभूति प्रेरित हो उनकी सहायता के लिए अग्रसर होता है। निस्सन्देह विशाख के ही उद्योग से चन्द्रलेखा, बौद्ध महन्त सत्यशील के चंगुल से छुटकारा पाती है और सुश्रवा नाग को अपनी अपहृत भूमि वापिस मिलती है।

सुशिक्षित होने पर भी विशाख लोक व्यवहारों से पूर्ण परिचित नहीं है। उसके स्वभाव में एक अजीब अक्खड़पन है। इसी से वह जहाँ जाता है वहाँ मुँहठेठ बात कहने के कारण अन्य लोगों से उसकी मुठभेड़ हो जाती है। कानीर विहार के द्वार पर ही वह एक भिक्षु से उलझ जाता है। महापिङ्गल से प्रथम मिलन

के अवसर पर ही विशाख की जो बातें उससे होती है उससे स्पष्ट हो जाता है कि राजपुरुषों को अपने अनुकूल करने की क्षमता स्वतः उसमें नहीं है। परिस्थितियों द्वारा ही वह आपेक्षित कुशलता प्राप्त करता है। राजसभा में भी सत्य किन्तु अप्रिय कथन के कारण विशाख को मन्त्री द्वारा डाँट सुननी पड़ती है। किन्तु फिर भी विशाख को अपने मानापमान की उतनी चिन्ता नहीं जितना कार्य्य सिद्ध करने की। वह पुरुषार्थ पर दृढ़ आस्था रखने वाला है। वह समझता है कि 'संसार उन्नति का साथी है, और उद्योगहीन मनुष्य शिथिल हो जाता है।' अतः वह अपने उद्योग और पुरुषार्थ में सदैव संलग्न रहता है।

अपने हृदयस्थित सच्चे विचारों को दूसरों के सामने निर्भयता के साथ रखने वाला और अपनी आत्मा के आदेश के अनुसार कार्य्य करने वाला पुरुष ही निर्भीक कहा जा सकता है। विशाख इसी कोटि का मनुष्य है। वह जिस स्पष्टता के साथ बौद्ध महन्त सत्यशील, और राजा नरदेव के समक्ष उनके अन्यायपूर्ण कुकृत्यों का पर्दा खोलता है उससे उसके निर्भीक आत्मबल का परिचय मिलता है। वह भिक्षु से कहता है—"मैंने अच्छी तरह विचार कर लिया है कि आपको इतनी भूमि का अन्न खाकर और मोटा होने की आवश्यकता नहीं।" इसी प्रकार वह नाटक के तृतीय अङ्क के चतुर्थ दृश्य में न्यायासन पर बैठे हुए राजा नरदेव के एक प्रश्न का मुँहतोड़ उत्तर देता है—"नहीं जानता हूँ कि उस समय क्या उत्तर दिया जाय जब कि अभियोग ही उलटा हो और जो अभियुक्त हो—वही न्यायाधीश हो।" विशाख में स्वाभिमान की मात्रा भी इतनी प्रबल है कि वह चन्द्रलेखा को नरदेव के हवाले करने का प्रस्ताव करने वाले महापिंगल का मस्तक ही तलवार से काट लेता है। विशाख के स्वभाव में यौवन के प्रभाव से शीघ्र ही उत्तेजित होने की प्रवृत्ति है। वह चैत्य में बौद्ध भिक्षु निर्भयानन्द को मारने

के लिए तलवार उठाता है और नाटक के अन्तिम दृश्य में नरदेव को घायल दशा में देखने पर भी उसके विरुद्ध उसकी प्रतिहिंसा जाग उठती है, जिसे प्रेमानन्द शान्त करते है।

विशाख के चरित्र में सबसे महत्वपूर्ण घटना चन्द्रलेखा का प्रेम है। नाटकीय कथावस्तु के विकास का मानों यही आधार है, तथा विशाख की कर्मण्यता एवं पुरुषार्थ का प्रेरक चन्द्रलेखा के प्रति उसका प्रेम है। वह स्वयं कहता है कि "चन्द्रलेखा को यदि न देखता तो सम्भव है कि यह धर्मभाव न जागता।" चन्द्रलेखा के प्रथम साक्षात्कार में ही उसकी दारिद्र्यग्रस्त मूर्ति देख कर विशाख की सहानुभूति तो सजग होती है पर साथ ही उसका रूपलावण्य देखकर उसके प्रति अनुराग का भी स्फुरण होता है। चन्द्रलेखा भी विशाख की परदुःखकातरता, परोपकार भावना एवं पुरुषार्थमय व्यक्तित्व से प्रभावित हो उसकी ओर सहज ही आकर्षित होती है और उसके सामने आत्मसमर्पण कर देती है। दोनों ही परस्पर प्रणयबन्धन में बँध जाते हैं। विशाख नितान्त मुखर प्रेमी ही नहीं है। वह अपनी प्रेमिका को घोर सङ्कटमय परिस्थितियों से बचाता है और उसके सतीत्व तथा सम्मान की रक्षा के लिए स्वयं विपत्तियों के बादल अपने सर पर बुलाता है। वह चन्द्रलेखा को कानीर विहार की कोठरी से मुक्त कराता है तथा राजा नरदेव के चंगुल से उसे बचाने के लिए वह अपने प्राणों की भी बाजी लगा देता है। चन्द्रलेखा के प्रेम से ही उसका सारा जीवन अनुप्राणित है। इस दृष्टि से यद्यपि विविध व्यापारों में उसकी संलग्नता स्वार्थप्रेरित प्रतीत होती है किन्तु फिर भी वह सात्विक ही मानी जायगी। नाटककार ने इसी बात का प्रतिपादन प्रेमानन्द द्वारा नाटक में कराया है—"जब तक शुद्ध बुद्धि का उदय न हो, तब तक स्वार्थ प्रेरित होकर भी सत्कर्म करणीय है। ....उद्देश्य उत्तम होना चाहिए। जो कर्त्तव्य है उसे निर्भय होकर करो।"

विशाख में गुरुभक्ति अटल रूप से है। वह अपने गुरु प्रेमानन्द के उपदेशों को मंत्रवत् ग्रहण कर जीवन में उनके अनुसार कार्य करता है। परोपकार, निर्भयता, उदारता आदि सद्गुण उसके गुरु की ही देन हैं, जिनसे उसका चरित्र अलंकृत है। वह गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धा एवं भक्ति रखता है। वह उनके सामने अत्यन्त विनम्रता पूर्वक उनके उपदेशों को ग्रहण कर उनका पालन करता है। वह प्रेमानन्द के ही आदेश से भिक्षु और नरदेव की हत्या नहीं करता तथा अपने हृदय की उत्तेजना को दबा जाता है।

नाटक का नायक विशाख है। उसमें नायकोचित प्रायः सभी विशेषताएँ हैं। वह विद्वान, पराक्रमी, पुरुषार्थी, विनम्र और धैर्यवान है, तथा वह परोपकार के लिए सदैव तत्पर रहने वाला है। नाटक की सभी प्रमुख घटनाओं से उसका सम्बन्ध है। नाटक के अन्य प्रमुख पात्र सत्यशील, महापिंगल, नरदेव, सुश्रुवा, प्रेमानन्द आदि उसके चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करने में सहायक होते हैं। नाटक का फल नायिका की प्राप्ति भी उसको ही होती है। विशाख को यद्यपि नाटक के फल रूप राज्यप्राप्ति तो नहीं होती किन्तु उसे बालक-राजा के शिक्षण का कार्य्य प्राप्त होता है, जो राज्य प्राप्ति के ही समान है। नाटककार ने नाटक का नाम उसके नाम पर ही रखा है, अतः विशाख ही निर्विवाद रूप से नाटक का नायक है।

'विशाख' 'प्रसाद' जी की प्रारम्भिक नाटकीय कृति है अतः उसमें पात्रों के चरित्र का विकास-क्रम सुस्पष्ट एवं सुव्यवस्थित नहीं है। पात्रों की स्वभावगत विशेषताओं का प्रत्यक्षीकरण निखरे हुए रूप में नहीं प्राप्त होता; अतः उनका व्यक्तित्व विशेष प्रभावोत्पादक नहीं बन पाया। 'विशाख' के चरित्र में भी सद्गुणों का स्पष्ट विकास नहीं है तथा उसके स्वभाव में जो कुछ दुर्बलताएँ हैं, वे इस रूप से निरन्तर सामने आती रहती हैं कि उनके कारण सद्गुणों का स्वरूप और भी धूमिल हो जाता है। यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि नायक के रूप में जैसा उत्कर्षपूर्ण विशाख का चरित्र होना चाहिए था वह नहीं हो सका।

नरदेव

'विशाख' नाटक के प्रथम अङ्क के द्वितीय दृश्य में सर्वप्रथम नरदेव एक कर्त्तव्य-परायण एवं न्यायनिष्ठ राजा के रूप में दिखाई पड़ता है। किन्तु बाद में सामान्य मानव-हृदय की सहज दुर्बलता—रूपमोह—के वशीभूत होजाने के कारण वह नैतिक पतन के गर्त में गिर जाता है। वह कर्त्तव्यपालन, न्यायभावना आदि सभी राजोचित गुणों से विहीन कामान्ध एवं अविवेकी दिखाई पड़ता है। आकस्मिक विपत्तियुक्त घटनाएँ तथा प्रेमानन्द के उदात्त सात्विक उपदेश एवं सहानुभूति पूर्ण व्यवहारों से उसका अविवेक दूर होजाता है और उसमें पूर्ण सात्विक बुद्धि का उदय होजाता है।

प्रजा-पालन और निष्पक्ष न्यायदान, राजा के प्रमुख कर्त्तव्य हैं। नरदेव के चरित्र में पहिले इन्हीं गुणों का निदर्शन है। विशाख द्वारा कानीर विहार के बौद्धमहन्त सत्यशील के कदाचारों की कुटिल कथा सुनकर नरदेव कर्त्तव्य एवं न्यायभावना से प्रेरित हो अत्यन्त तत्परता के साथ कहता है—'बस ब्राह्मणदेव पर्य्याप्त हुआ। (मन्त्री से) क्यों मन्त्रिवर! क्या यही प्रबन्ध राज्य का है? खेद की बात है। अभी इस ब्राह्मण की बातों की खोज की जाय, और गुप्त रीति से। देखो आलस न हो! हम स्वयं इसका न्याय करेंगे।" इतना ही नहीं, वरन् वह स्वयं बौद्ध विहार में जाकर चन्द्रलेखा को महन्त के चंगुल से मुक्त कराता है और अन्याय पूर्वक सुश्रवा नाग की अपहृत भूमि उसे वापिस दिलाता है। नरदेव की न्यायबुद्धि पूर्ण सात्विक नहीं है। वह क्रोध और आवेश से परिपूर्ण हो एकांगी है। अतः सत्यशील जैसे असाधु महन्त के पापाचरण से उत्तेजित हो वह समस्त बौद्ध विहारों को जला देने की आज्ञा

देता है। प्रेमानन्द के अनुरोध एवं सात्विक उपदेश से वह अपनी उस क्रूर आज्ञा को वापिस लेता है और समस्त बौद्ध विहारों का अग्निदाह बन्द हो जाता है। नरदेव के इस कार्य्य से सच्चे साधु एवं महात्मा पुरुषों के प्रति उसकी आस्था भी प्रकट होती है। इसी सद्गुण के पूर्ण विकास होने पर उसका पूर्ण विनाश नहीं हो पाता।

ऐश्वर्य एवं वैभव सम्पन्न मनुष्यों के जीवन में विलासिता एक सामान्य दुर्गुण है। उनकी इस दुर्बलता के विकास में उनके कुछ पार्श्ववर्ती भी प्रायः सहायक हो जाते हैं। विलासिता के पंक में डूबा हुआ मनुष्य नीति एवं सदाचार से सर्वथा वञ्चित हो जाता है। नरदेव का भी जीवन प्रवाह इसी प्रकार का है। नर्तकियों के नृत्य और गान से मनोरंजन करने वाला नरदेव महापिंगल जैसे पतित चाटुकार सभासदों से घिरा रहता है। चन्द्रलेखा के लावण्यमय स्वरूप को देखते ही वह विवेक और न्याय बुद्धि को मानों तिलाञ्जलि दे उसे प्राप्त करने के लिये आतुर हो जाता है। प्रलोभन द्वारा चन्द्रलेखा को प्राप्त करने में असफल होने पर नरदेव में कोमलता के स्थान पर कुटिलता और क्रूरता आजाती है। वह महापिंगल की सहायता से चन्द्रलेखा को प्राप्त करने के लिये अनेक कौशल रचता है। चैत्य में पूजन के लिये आई हुई चन्द्रलेखा के हृदय में भिक्षु द्वारा राजरानी बनने की भावना पैदा कराने का षडयन्त्र वह महापिंगल की सहायता से रचता है। इसमें भी सफलता न मिलने पर विशाख के पास महापिङ्गल को भेजता है, जिससे कि वह भय या लोभ से चन्द्रलेखा को उसे समर्पित करदे। नरदेव काम-वासना से इतना विवेकहीन होजाता है कि वह अपनी रानी का कल्याणपूर्ण उपदेश और निर्देश भी नहीं ग्रहण करता। यद्यपि यह ठीक है कि महापिंगल उसके कामजन्य अविवेक की वृद्धि में सहायक है किन्तु फिर भी प्रजापालक राजा होने के नाते उसका यह अत्यन्त जघन्य अपराध है कि वह अपनी एक प्रजा के सतीत्व और सम्मान

की खुली लूट के लिये प्रयत्नशील हो। नरदेव अपने कुकृत्यों का स्वयं ही उत्तरदायी है।

अनीति और अनाचार अपनी चरमावस्था को पहुँच कर कर्त्ता के अस्तित्व के लिये विस्फोट प्रस्तुत कर देते हैं। नरदेव अपनी दुर्नीति एवं दुराचारों से अपने विरुद्ध विनाश की भूमिका स्वयं प्रस्तुत करता है। धूर्त महापिंगल की हत्या का प्रतिकार वह विशाख को निर्वासन एवं प्राणदण्ड की आज्ञा देकर करना चाहता है। समस्त नाग जाति विद्रोही होकर सत्याग्रह के लिये प्रस्तुत हो जाती है। प्रेमानन्द के कल्याणप्रद सदुपदेश को वह अवज्ञा के कानों से सुनता है। उसकी प्रतिकार भावना प्रबल होकर क्रूरता का ताण्डव करने लगती है। वह शान्त किन्तु दृढ़ नाग जाति को न्यायालय से हटाने के लिये क्रूरता पूर्वक आदेश देता है—"मारो इन दुष्टों को।" परिणामस्वरूप नरदेव को ही अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला में परिवार सहित जलना पड़ता है। प्रेमानन्द और चन्द्रलेखा की साधुता और उदारता के कारण ही नरदेव और उसके पुत्र के प्राण बचते हैं।

पापाचरण का यथेष्ट दण्ड मिलने पर ही विकृत हृदय सुकृति की ओर उन्मुख होता है। अग्नि की लपटों में झुलस कर नरदेव पुनः तपाये हुये सोने की तरह खरा हो जाता है। उसका विवेक सजग होकर उसे हिताहित का यथार्थ ज्ञान कराता है। प्रेमानन्द के हितपूर्ण उपदेश एवं उदार व्यवहारों से उसकी आखें सदा के लिये खुल जाती हैं। वह मुक्त कंठ से स्वीकार करता है—"हाय हाय, मैंने क्या किया,—एक पिशाच-ग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी...।" इस प्रकार वह आत्मग्लानि व्यक्त कर सच्चे हृदय से प्रेमानन्द, विशाख और चन्द्रलेखा से अपने कुकृत्यों के लिये क्षमा मांगता है। नरदेव के चरित्र में यह परिवर्तन घटनाओं के घात-प्रतिघात और परिस्थितियों की प्रेरणा से है; अतः पूर्ण स्वाभाविक है।

प्रेमानन्द

प्रेमानन्द नाटक का महात्मा पात्र है। वह उच्च विचारशील एवं परोपकारी है। वह जीवन के उच्च आदर्शों के अनुरूप ही आचरण करने वाला है। नाटक के प्रायः सभी प्रमुख पात्र विशाख, नरदेव, सत्यशील आदि के राग, द्वेष, प्रमाद, लोभ आदि से पराभूत हृदयों को अपनी अमृतमयी शीतल एवं स्निग्ध वाणी से अभिसिञ्चित करता हुआ वह उन्हें आदर्श-जीवनपथ का पथिक बनाता है। 'विशाख' नाटक में प्रेमानन्द का व्यक्तित्व मानों एक प्रकाश-स्तम्भ के समान है जिसके प्रखर आलोक में नाटक के अधिकांश पात्र भटकते, भूलते हुए भी अपनी जीवन यात्रा का आदर्श-पथ प्राप्त करके कृतार्थ होते हैं।

प्रेमानन्द शाश्वत-संघ का अनुयायी है। प्रेम की सत्ता को संसार में जगाना ही उसका कर्त्तव्य है। वह अध्यापक जीवन सफलता पूर्वक व्यतीत कर परिव्राजक रूप में प्रकृति का दर्शन करने की अभिलाषा से पर्यटन करता है। जीवन में उसकी कोई निजी आकांक्षा या स्वार्थ नहीं है, अतः वह अपने विचारों का उपदेश बड़ी निर्भीकता एवं पक्षपात रहित होकर करता है। कानीर विहार में ही वह न्यायपथ का अवलम्बन करते हुए चन्द्रलेखा को मुक्त करने के लिये सत्यशील से निर्भीकता पूर्वक कहता है—"क्या तुम उस कन्या को न छोड़ दोगे ? क्या धर्म की आड़ में प्रभूत पाप बटोरोगे ?"

प्रेमानन्द का अपने शिष्य विशाख पर प्रभूत स्नेह है। वह उसे सदैव जीवन का सत्पथ प्रदर्शित करता है और जब कभी उसमें उत्तेजना एवं द्वेष का प्रादुर्भाव होता है तब वह अपने शीतल उपदेशमय वचनों द्वारा उसे शान्त करता है। वह विशाख को कर्मयोग के व्यावहारिक रूप का अनुकरण करने की शिक्षा देकर निर्भय रूप से

कर्त्तव्य करने का आदेश देता है। जब विशाख चैत्य में प्रवञ्चक भिक्षु को मारने के लिए तलवार उठाता है तो प्रेमानन्द उसे यह समझाते हुए रोक लेता है—'क्षमा सर्वोत्तम दण्ड है विशाख।' इसी प्रकार जब विशाख, नरदेव को अन्तिम दृश्य में अपने आश्रम में देखता है और द्वेष एवं प्रतिहिंसा प्रेरित हो उससे प्रतिशोध लेने के लिए प्रस्तुत होता है, तब प्रेमानन्द उसे समझाता है—"विशाख, वत्स! प्रतिहिंसा, पाशववृत्ति है। .....यदि मेरा कहा मानों, तो तुम सज्जनता के हृदय से इन्हें क्षमा करदो...।"

प्रेमानन्द मानों साक्षात् प्रेम-मूर्ति है। उसे किसी से द्वेष नहीं है। वह अपकारी और अनाचारी व्यक्तियों को भी अपने प्रेम-मय कोमल वचनों और व्यवहारों द्वारा अपने वश में कर लेता है। नरदेव अपने अन्यायपूर्ण कार्यों का शांत विरोध करने वाले प्रेमानन्द को अत्यन्त तिरस्कार पूर्ण शब्दों द्वारा न्यायालय से बहिर्गत होने की आज्ञा देता है—"चले जाओ सन्यासी, तुम क्यों व्यर्थ अड़ते हो। यह नहीं हो सकता। निकालो जी, इन्हें बाहर करो।" किन्तु प्रेमानन्द के हृदय में उसके प्रति सद्भावना और सहानुभूति न्यून नहीं होती। वह राजा को अग्नि में से घुस कर उठा लाता है और पीठ पर लाद कर चला जाता है। वह औषधि उपचार से उसे पुनः स्वस्थ कर देता है। प्रेमानन्द की शीतल वाणी और व्यवहारों के प्रभाव से नरदेव का कलुषित हृदय निर्मल हो जाता है तथा वह अपने वास्तविक उपकारी के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा व्यक्त करता हुआ अपने अपराधों के लिए क्षमा मांगता है—"देवदूत! मेरे अपराध क्षमा कीजिए।...गुरुदेव, मैं आपकी शरण हूँ; मुझे फिर से शान्ति दीजिए।" प्रेमानन्द जैसे पारस रूप महात्मा के प्रभाव से लौहवत् कठोर हृदय वाला नरदेव काञ्चवन-वत् कलुष विहीन एवं कान्तियुक्त व्यक्तित्व प्राप्त करता है।

प्रेमानन्द का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। सभी जाति के लोग उसके आदेशों को मन्त्रवत् ग्रहण करते हैं। नाग जाति नरदेव के अत्याचारों से पीड़ित हो रक्तमय क्रान्ति के लिए आकुल हो जाती है। प्रेमानन्द अपने मनोहर उपदेश द्वारा उन्हें अपने अनुकूल बनाकर उनकी हिंसक वृत्ति को उपशमित करता है। समस्त नाग जाति उसके आगे नतमस्तक हो उसके बताए हुए मार्ग पर चलना स्वीकार करती है। बौद्ध विहारों को जला देने की आज्ञा को नरदेव, प्रेमानन्द के समझाने से वापिस लेता है। प्रेमानन्द अपने भात्विक और प्रेममय उपदेशों से समष्टि और व्यष्टि की कल्याण साधन में पूर्ण सफल होता है। उसका व्यक्तित्व निस्सन्देह अत्यन्त गौरव-पूर्ण एवं श्रद्धा योग्य है। नाटककार ने उसके कल्पित चरित्र में अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा कर व्यावहारिक जीवन में उनकी उपादेयता और प्रभविष्णुता सफलता पूर्वक अभिव्यक्त किया है। प्रेमानन्द का जीवन यद्यपि आदर्शों के उच्च धरातल पर ही सदैव संचरण करता हुआ दिखाई देता है पर लोक में ऐसे उदात्त विचारों वाले कर्मठ पुरुषों का अस्तित्व प्रायः देखा जाता है; अतः उसका जीवन-चरित्र अस्वाभाविक नहीं कहा जासकता।

महापिङ्गल

महापिङ्गल विनोदी, किन्तु धूर्त एवं चाटुकार राज सहचर है। वह अपनी विनोद पूर्ण मुखरता द्वारा राजा नरदेव तथा उसके अन्य सभासदों का मनोरञ्जन करता है। वह स्वयं कामुक मनोवृत्ति का है तथा राजा की कामुक दुश्चेष्टाओं में उसका सहायक होता है। नाटककार ने विशाख द्वारा उसकी मृत्यु नाटक में प्रदर्शित की है। लोक की नीतिपूर्ण व्यवस्था के लिये समाज में महापिङ्गल जैसे कुटिल मनुष्यों की स्थिति सर्वथा अवाञ्छनीय है।

महापिङ्गल में अहम्मान्यता अत्यधिक मात्रा में है। अतः वह औरों के सामने आत्मगौरव और अभिमान भरी बातें खूब छाती फुला फुला कर करता है। इतना ही नहीं वह अपना अभिमान और गर्व दिखाने के लिये अकारण मिथ्या क्रोध भी प्रगट करता है। प्रथम अङ्क के द्वितीय दृश्य में उसकी इन वृत्तियों का परिचय स्पष्ट रूप से मिलता है। विशाख को देखते ही, पिङ्गल उस पर अपना प्रभाव जमाने के लिये आत्मप्रशंसा के पुल बाँध देता है और विशाख को अपने से हीन सिद्ध करने के लिये उसे दो-चार खोटीखरी भी सुना देता है। आत्माभिमानी स्वयं अपनी प्रशंसा करने के अतिरिक्त दूसरों से भी अपने सामने ही अपनी श्लाघा सुनने का इच्छुक रहता है और उसे प्राप्त कर वह हर्ष प्रकट करता है। विशाख, पिङ्गल से कहता है—"मैंने आपके गाने की बड़ी प्रशंसा सुनी है, इसी से—हाँ।" पिङ्गल प्रसन्न होकर तत्काल कहता है—'तुम रसिक भी हो। अच्छा अच्छा, सुनाऊँगा, ठहरो चित्त

उसके अनुकूल हो जाय। मिथ्या आत्माभिमान क्षुद्र बुद्धि का परिचायक है।

महापिङ्गल स्वयं कामुक है और भीषण चाटुकार है। वह अपनी चाटुकारिता से राजा की दुर्वासनाओं को प्रोत्साहन देकर सर्वथा अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है। वह चन्द्रलेखा की बहिन इरावती के प्रति विषयासक्त होता है। साठ वर्ष की वृद्धावस्था में, परिणीता भार्या के होते हुए भी अन्य स्त्रियों के प्रति प्रेमाभिनय करना उसके चरित्र के नैतिक खोखलेपन का परिचायक है।

महापिंगल की चाटुकारिता तो मानों प्रकृतिसिद्ध है। उसे अपनी चाटुकारिता पर गर्व है। वह विशाख से कहता है—"महाराज को हमारे ऐसे यदि दो चार चाटुकार सामन्त न मिलते तो उन्हें बुद्धि का अजीर्ण हो जाता, उनकी हाँ न मिलाने से फिर भयानक बात की संग्रहणी हो जाती है, और निरीह प्रजा से अनेक विधानों से कर न मिलने के कारण उन्हें उपवास करके ही अच्छा होना पड़ता है।" महापिंगल कोरी हाँ—में—हाँ मिलाने वाला ही नहीं है वरन् वह राजा की कामुक दुर्वासनाओं को प्रोत्साहित करता है और स्वयं उसका सहायक बनता है। वह राजा को रमण्यटवी में ले जाकर चन्द्रलेखा के समक्ष प्रेम की प्रस्तावना आशीर्वाद—व्याज से प्रस्तुत करता है—'अच्छा तुम राजरानी हो।' अपने प्रथम प्रयास में निष्फल होने पर वह प्रवञ्चना और कूट चालों का आश्रय लेता है। भिक्षु को चैत्य मे भेजता है जिससे कि चन्द्रलेखा के हृदय में राजा से सम्बन्ध स्थापित करने की भावना घर कर जाय। वह राजा की विषयासक्ति को अपनी चाटूक्तियों द्वारा

उत्तेजित करता रहता है। नरदेव जब मिथ्या एवं कलुषित प्रेम-भावना का अभिनय करता हुआ चन्द्रलेखा की आज्ञा से अपने पेट में कटार मार लेने की बात पिंगल से कहता है तो वह अपनी चाटूक्ति से मानों राजा के इस मिथ्या दम्भ को प्रोत्साहित करते हुए कहता है—'यथार्थ है, श्रीमान, उसे भीतर कीजिये नहीं तो मेरी बुद्धि घूमने चली जायगी।.....हाँ, जी, कुछ ऐसा-वैसा नहीं प्रेम भी तो राजाओं का है।" महापिङ्गल की कुटिल चाटूक्तियों के कारण ही राजा नरदेव पर उसकी रानी के अनुरोध पूर्ण सदुपदेशों का प्रभाव नहीं पड़ता और वह कुमार्ग से विरत नहीं होता। महापिङ्गल की नीचतापूर्ण मूर्ख बुद्धि की वह पराकाष्ठा है जब कि वह विशाख के पास चन्द्रलेखा को समर्पित करने का प्रस्ताव अधिकारपूर्ण ढंग से जाकर रखता है। विशाख द्वारा महापिङ्गल की हत्या सर्वथा औचित्यपूर्ण है।

महापिंगल के चरित्र में नाटककार ने हास्योत्पादकता का भी विधान किया है। उसकी आत्मप्रशंसायुक्त गर्वोक्तियों में हास्य का पर्य्याप्त समिश्रण है। उसके कथनों में मिथ्याडम्बर, आत्मश्लाघा, पेटूपन कार्पण्य आदि की मुखर अभिव्यञ्जना है, जिससे हास्य का सम्यक् स्फुरण होता है। पिंगल के चरित्र में प्राचीन संस्कृत नाटकों के विदूषकों की स्पष्ट छाया है। राज-सहचर होने के साथ ही वह राजा की प्रेम लीलाओं में उसका सहयोगी और सलाहकार है तथा भोज्य पदार्थों में उसकी तीव्र अभिरुचि है। चन्द्रलेखा के यहा राजा के साथ जाते उसे बड़ी जोर की भूख लगती है। दूसरों के यहाँ भोजन करने की तो उसमें तीव्र तत्परता है पर अन्य लोगों को अपने यहाँ खिलाने का नाम सुनते ही वह मानों आसमान ही सर पर उठा लेता है। इससे उसकी कृपणता का का भी परिचय मिलता है। प्राचीन संस्कृत नाटकों में विदूषकों

का चारित्रिक पतन इस कोटि का नहीं होता जैसा कि पिंगल का है अतः वे नाटक के सम्मानित पात्र होते हैं। अभिज्ञान शाकुन्तला का विदूषक–माधव्य-राजमाता के लिए पुत्रवत् सम्मानित है। महापिङ्गल को नरदेव की रानी कुटिल सभासद के रूप में देखती है और स्वयं उसके दण्ड-विधान का आदेश देती है। अतः आदर्श रक्षा हेतु पिंगल ऐसे खलपात्र की मृत्यु नाटक के अन्तर्गत प्रदर्शित करना अनुचित नहीं है।

सत्यशील

सत्यशील एक बौद्ध महन्त है। उसके चरित्र में बौद्धों के गुणों सात्विक का सर्वथा अभाव है तथा उनके स्थान पर महन्तों के दुर्गुणों का ही प्राधान्य है। करुणा, क्षमा, उदारता, परोपकार, विश्वमैत्री आदि सात्विक बौद्ध जीवन की विशिष्टताओं के स्थान पर उसमें स्वार्थ, लोभ, पाखण्ड, दुराचार, क्रूरता आदि प्रबल रूप से वर्तमान है। नागों की अपहृत भूमि विहार के लिये प्राप्त कर वह उसका उपभोग बड़े अधिकारपूर्ण ढङ्ग से करता है। उसे अपने खेतों की पगडण्डी पर से भी किसी का निकलना सह्य नहीं है। वह सुश्रुवा नाग को पगडण्डी पर से निकलने के कारण बड़ी उल्टी सीधी बातें कहता है और उसे बँधवा लेता है, तथा विशाख को खेत में खड़ा देख कर उससे भी उलझ पड़ता है।

सत्यशील पाखण्डी, दुर्विनीत और डरपोक भी है। वह दूसरों के समक्ष अपनी धार्मिकता प्रकट करने के लिए कहता है—"इससे हमारे जैसे अनेक धार्मिक और निरीह व्यक्तियों का निर्वाह होता है……" परन्तु वह वास्तव में न तो धार्मिक है और न निरीह। ऐश्वर्य के उपभोग से विलासिता और अनीति का भी अतिचार उसके चरित्र में है। सुश्रुवा नाग को बाँधते समय उसकी कन्या चन्द्रलेखा पिता की रक्षा के लिए आजाती है। सत्यशील उसके रूप लावण्य को देख कर उस पर आसक्त हो जाता है तथा सुश्रुवा को छोड़ कर उसे पकड़ ले जाता है और विहार की एक कोठरी में बन्द कर देता है। विशाख के मुँह से उसकी क्रूर पापलीला सुनकर जब प्रेमानन्द उसे समझा बुझाकर चन्द्रलेखा को छोड़ने का आग्रह करता है तब वह उनसे ही बड़ी अशिष्टता के

साथ व्यवहार करता है और चन्द्रलेखा को नहीं छोड़ता। पाप और अत्याचार का जीवन बालू की भीत के समान क्षणिक होता है। राजा नरदेव, विशाख द्वारा सत्यशील के क्रूर एवं पापमय जीवन की गाथा सुनकर स्वयं सत्यशील के विहार में आता है और चन्द्रलेखा को उसके चंगुल से मुक्त कराता है। सत्यशील मिथ्या भाषण द्वारा अपने बचाव का प्रयत्न करता है। वह राजा से कहता है—'नरेश यह प्रव्रज्या ग्रहण करने आई थी।' किन्तु उसके पापों का पर्दा खुल जाता है और राजा उसे बन्दीगृह में डलवाकर उसके विहार में आग लगवा देता है। इस प्रकार उसे अपने कुत्सित जीवन का सम्पूर्ण प्रतिफल प्राप्त हो जाता है।

नाटककार ने सत्यशील के जीवन में महन्तों के स्वार्थी, विलासी और प्रवञ्चनापूर्ण जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत की है। यद्यपि उसका चरित्र विस्तार की दृष्टि से अत्यल्प है फिर भी महन्तों के सामान्य जीवन के अनेक दुर्गुणों का प्रत्यक्षीकरण उसके द्वारा स्पष्टता के साथ हुआ है। सत्यशील का दुःशील चरित्र मानों प्रेमानन्द सदृश सात्विक बौद्ध भिक्षु के चरित्र का प्रतिरूप है और इससे अपर का चरित्र-गौरव द्विगुणित होगया है।

सुश्रुवा (नाग)

नागराज सुश्रुवा शोषित और उत्पीड़ित है। उसके पूर्वजों की समस्त भूमि राजा द्वारा अपहृत कर बौद्ध विहारों को दान कर दी गई है। अतः वह अत्यन्त अकिञ्चन और निरीह दशा में है। उसे अपने पूर्वजों की भूमि पर चलने का भी स्वतन्त्र अधिकार नहीं है। बौद्ध महन्त सत्यशील उसे खेत की पगडंडी पर चलने के कारण ही मारता है और बाँधने का उद्योग करता है। उसकी कन्या चन्द्रलेखा को महन्त के आदमी उसके सामने ही बाँधकर पकड़ लेजाते हैं।

सुश्रुवा नाग में, अकिञ्चन होने पर भी स्वाभिमान और पूर्व गौरव की भावना विद्यमान है। महन्त के द्वारा अत्यन्त कदर्थित किए जाने पर उसका स्वाभिमान गरज उठता है। वह भिक्षु से ललकार कहता है—"तुम जानते हो, मैं वही सुश्रुवा नाग हूँ, जिसके आतङ्क से यह रमणीक प्रदेश थर्राता था। अभी भी तुम्हारे जसे कीड़ों को मसलने के लिए इन वृद्ध बाँहों में कम बल नहीं है।" सुश्रुवा के इस ओजस्वी व्यक्तित्व का विकास नाटक में आगे नहीं हुआ। रमणी के द्वारा हमें यह ज्ञात होता है कि वह कहीं बाहर चला जाता है तथा राजा उसकी सम्पत्ति लौटा देते है। सुश्रुवा को हम पुनः एक दुःखद दृश्य का साक्षात् करते हुए देखते हैं। उसके सामने ही राजा के अनुचर उसके जामाता विशाख और कन्या चन्द्रलेखा को महापिंगल की हत्या के अपराध में पकड़ ले जाते हैं। सुश्रुवा इस घटना पर खेद प्रकट कर ही रह जाता है "चन्द्रलेखा गई, विशाख भी गया, हा...।" राजा नरदेव के दरबार में सुश्रुवा नाग एक विनीत प्रार्थी

के रूप में ही दिखाई पड़ता है—"आपके सैनिकों ने मेरी कन्या चन्द्रलेखा और जामाता विशाख को अकारण पकड़ रखा है, उसे छोड़ दीजिए।" वस्तुतः सुश्रवा का चरित्र विकास अत्यन्त अल्प और साधारण कोटि का है। उसकी ओजस्विता, स्वाभिमान पराक्रम आदि प्रदर्शन के जो स्थल नाटकीय वस्तु में हैं वहाँ भी उसके व्यक्तित्व को गौण ही रखा गया अतः उसका चरित्र महत्वशून्य प्रतीत होता है।

चन्द्रलेखा

चन्द्रलेखा अकिञ्चन, सुन्दरी तथा अत्यन्त सरल स्वभाव की युवती है। वह एक प्रतिष्ठित नागकुल की कन्या है अतः अभिजात्य गुण—आचरण की पवित्रता, आतिथ्य भावना, मर्य्यादा भाव आदि उसके चरित्र में है। 'विशाख' के स्त्री पात्रों में चन्द्रलेखा का चरित्र ही अधिक विस्तार से अङ्कित किया गया है। नाटक के नायक से उसका परिणय होता है तथा नाटक की अधिकांश प्रमुख घटनाएँ उसके जीवन-विकास से सम्बन्धित हैं। नाटक के नायक विशाख का सत्यशील, नरदेव आदि से संघर्ष, चन्द्रलेखा के विषय में ही होता है। अतः चन्द्रलेखा ही नाटक की नायिका है।

नाटक के प्रारम्भ में चन्द्रलेखा अपनी बहिन इरावती के साथ अत्यन्त मलिन वेश में उदरपूर्ति के लिए खेत से सेम की फलियाँ तोड़ती हुई दिखाई पड़ती है। उदर ज्वाला से पीड़ित होने के कारण ही लोकदृष्टि में तथा कथित निन्दनीय कर्म में प्रवृत्त होने पर भी उसमें अभिजात्य का सङ्कोच और लज्जा है। विशाख के साधारण ढङ्ग से टोक देने पर ही वह भयभीत होकर आँचल से सब फलियाँ उझल देती है तथा अत्यन्त कातर भाव से कहती है—"क्षमा कीजिए, मैं अब कभी न इधर आऊँगी। दरिद्रता ने विवश किया है, इसीसे आज सेम की फलियाँ पेट भरने के लिए अपने बूढ़े बाप की रक्षा करने के लिए, तोड़ ली हैं। यदि आज्ञा हो तो इन्हें भी रख दूं।"

विशाख की सहज सौम्य मूर्ति चन्द्रलेखा के मानस में अङ्कित हो जाती है। वह विशाख की निर्भीकता और परदुःखकातरता से अत्यन्त प्रभावित होती है। सत्यशील के विहार की कोठरी में

बन्द वह विशाख के प्रेम में ही विभोर है। उस कुत्सित कोठरी में बन्द वह उसी स्वर्ग का आनन्द लेती है। फिर तो वहाँ से मुक्त होने पर विशाख द्वारा किञ्चित प्रणय-चर्चा करते ही वह उसके सामने अपना हृदय हार जाती है। विशाख के प्रति उसका प्रेम अखण्ड है। उसे बड़े से बड़े प्रलोभन, प्रवञ्चना आदि अपने सुदृढ़ प्रेम-भाव से विचलित नहीं करते। महापिंगल और नरदेव द्वारा प्रदर्शित राजरानी बनने को सब्जबाग़ को वह ठुकरा देती है। वह चैत्य में प्रवञ्चक भिक्षु की देववाणी के रूप में आई हुई आज्ञा की उपेक्षा कर देती है। वह अपने पति की मङ्गलकामना के लिए अर्धरात्रि में चैत्य में अकेले ही दीपक रखने जाती है। वह अपने पति का साथ घोर सङ्कट-काल में भी नहीं छोड़ती। जब महापिंगल की हत्या करने के अपराध में राजा के अनुचर विशाख को पकड़ कर ले जाने लगते हैं तो चन्द्रलेखा स्वेच्छा से ही बन्दिनी हो उसके साथ जाती है। उसे अपने पति विशाख पर इतना अनन्य अनुराग है कि वह उसे अपने से बिलकुल प्रथक नहीं करना चाहती। विशाख को प्राप्त कर लेने के बाद विश्व में उसकी अन्य कोई कामना नहीं है। उद्योग के लिए बाहर जाने को उत्सुक विशाख से वह कहती है—'मुझे तो जीवनधन! तुम्हें पा जाने पर और किसी की आवश्यकता नहीं।' ××××"मैं क्या जानूँ कि संसार क्या चाहता है। मैं तो केवल तुम्हें चाहती हूँ। मेरे संकीर्ण हृदय में तो इतना स्थान नहीं कि संसार की बातें आ जायें।" चन्द्रलेखा के इस द्वितीय कथन से विशाख के प्रति उसके प्रेम की अनन्यता स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होती है।

चन्द्रलेखा के स्वभाव में सरलता एवं मनुष्यमात्र के प्रति सम्मानपूर्ण सहानुभूति है। महापिंगल और राजा नरदेव को अपने घर में आया देखकर वह अपनी स्वाभाविक सरल प्रकृति के अनुरूप उनके प्रति सम्मान प्रकट करती है और उनका समुचित

आतिथ्य करती है। पर इसके साथ ही उसमें सतीत्व और आत्म-सम्मान की रक्षा की दृढ़ता भी पर्य्याप्त है। महापिंगल और राजा की बातों से उन्हें प्रवञ्चक और अपने सतीत्व का लुटेरा समझ कर वह कठोर शब्दों में उनकी भर्त्सना करती है तथा राजा से डाँट कर कहती है—"राजन् मुझसे अनादृत न हूजिए, बस, यहाँ से चले जाइये।" इसके पहिले भी कानीर विहार में सत्य-शील के प्रलोभनों को ठुकराकर चन्द्रलेखा अपने चरित्र की पवित्रता एवं उज्ज्वलता का परिचय देती है।

चन्द्रलेखा के स्वभाव में नारी हृदय की एक दुर्बलता है। वह आकस्मिक घटनाओं से घबड़ाकर भयभीत हो जाती है। चैत्य में दीप के बुझते ही वह त्रस्त हो जाती है तथा आड़ में बैठे हुए भिक्षु की आवाज एवं गर्जना सुनकर वह घबड़ाकर गिर जाती है। वीर नारियों की सी साहसशीला प्रकृति का उसमें अभाव है। चन्द्रलेखा का चरित्र समीष्ट रूप से यद्यपि अधिक प्रभावोत्पादक नहीं है किन्तु उसके स्वभाव की सरलता, हृदय की कोमलता तथा उसके प्रेम की अनन्यता जिस स्वाभाविक रूप में प्रदर्शित की गई है उससे उसका व्यक्तित्व नाटक के अन्य स्त्री-पात्रों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण एवं आकर्षक होगया है।

इरावती

इरावती, चन्द्रलेखा की बहिन है। उसका चरित्र-विकास अत्यल्प है। वह अपनी बहिन के दुःख और सुख में दुःखी और सुखी है। उसे हम चन्द्रलेखा के साथ ही सेम की फलियाँ तोड़ते देखते हैं। वह विशाख को अपना और चन्द्रलेखा का परिचय देती है। चन्द्रलेखा और विशाख का प्रणय सम्बन्ध स्थापित होने पर इरावती विनोदपूर्ण आनन्द प्रकट करती है। तथा जब विशाख और चन्द्रलेखा, नरदेव के यहाँ बन्दी होकर चले जाते हैं तो वह घोर विषाद और चिन्ता में डूबी हुई दिखाई पड़ती है—"चन्द्रलेखा को लेकर इतना बड़ा उपद्रव हो जायगा कौन जानता था……।" नाटक में इरावती की स्थिति चन्द्रलेखा एवं तद्विषयक कुछ घटनाओं का परिचय कराने मात्र तक है। नाटककार ने उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं का निदर्शन कराते हुए उसके चरित्र का विकास नहीं किया। अतः वह नाटक की एक अत्यन्त साधारण स्त्री-पात्र है।

रानी

राजा नरदेव की स्त्री नाटक में केवल एक ही बार प्रकट होती है। किन्तु एक ही बार के साक्षात्कार में उसके स्वभाव की स्पष्टता, निर्भीकता एवं पतिपरायणता का सुन्दर आभास मिल जाता है। एक ओर तो वह अपने पति के विलासी और अनीति-पूर्ण जीवन की विनम्रतापूर्ण आलोचना करती है—"राज्य की व्यवस्था देखिए कैसी शोचनीय है। आपकी मानसिक अवस्था तो और भी।" तथा दूसरी ओर वह पूर्ण तेजस्विता के साथ महा-पिंगल सदृश कुटिल चाटुकारों की लम्बी खबर लेती है। उसके (रानी के) समक्ष ही जब भिक्षु द्वारा महापिंगल की कुटिलता की कलई खुलती है तो वह तत्काल अनुचरों को पिंगल को बाँधने का आदेश देती है। कामान्ध राजा नरदेव अपनी रानी की बातों पर ध्यान नहीं देता और महापिंगल को बन्धन-मुक्त करा देता है। अतः एक सच्ची पतिपरायणा स्त्री की भाँति वह पति की कल्याण भावना से अत्यन्त मुखर होती हुई राजा को यह निर्देश करती है "ऐसे कुटिल सभासदों का साथ छोड़िए" तथा अन्तिम रूप से यह चेतावनी देती हुई कि—'परिणाम बड़ा ही भयङ्कर होने वाला है।' वह चली जाती है।

तरला

तरला, नाटक के खलपात्र महापिंगल की स्त्री है। वह अपने बूढ़े एवं कामी पति पर पूर्ण शासन करती है। महापिंगल अपनी भयानक आकृति वाली कुरूपा स्त्री से बहुत डरता है। तरला भी महापिंगल के चरित्र और स्वभाव की दुर्बलता का लाभ उठाकर उसकी बहुत दुर्दशा करती है। वह उसकी कठोर व्यंग्य-पूर्ण शब्दों से भर्त्सना ही नहीं करती वरन् उसके बाल नोचती है और धौल जमाती है। तरला में निम्न कोटि की स्त्रियों की सभी दुर्बलताएँ और दुर्गुण हैं। उसे क्षुद्र प्रकृति की स्त्रियों की भाँति गहनों से बड़ा मोह है। वह गहनों के लोभ में पड़कर पति के दुर्गुणों की भी उपेक्षा कर देती है। महापिंगल ज्योंही उसे चन्द्रहार लाने का लालच देता है कि वह उसके अवगुणों को भूलकर उसका मनुहार करने लगती है और उसके स्वर में स्वर मिलाकर गाती है—

'लगा दो गहने का बाजार।
कुछ चिन्ता है नहीं और क्या, मिले नहीं आहार।"

तरला सोने के लालच में इतनी अन्धी है कि भिक्षु निर्भयानन्द की मिथ्या प्रवञ्चना में पड़कर वह अपना सारा चाँदी का जेवर उसे सोना बनाने को देती है। लालच का फल सदैव बुरा होता है। सोने के लोभ में पड़कर तरला अपना सारा चाँदी का गहना खो बैठती है तथा पति से हाथ धोने के बाद ही वह अपनी सम्पत्ति भी गँवा बैठती है। स्वर्ण और आभूषणों की अत्यन्त लोभी स्त्रियों की यह दुरवस्था परम स्वाभाविक है। नाटककार ने मानों इसी तथ्य का दिग्दर्शन कराने के लिए नाटक में तरला के चरित्र की अवतारणा की अन्यथा नाटकीय कथावस्तु एवं व्यापारों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

विलास

'कामना' नाटक के पुरुष-पात्रों में विलास का चरित्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। फूलों के द्वीप में उसके पदार्पण करते ही उसका प्रभाव क्रमशः प्रसारित होने लगता है। द्वीप की प्रधान स्त्री कामना ही सर्वप्रथम उससे प्रभावित होती है। तत्पश्चात् द्वीप के प्रायः सभी नर नारी उसके उपदेशों और आदेशों को मन्त्रवत् ग्रहण करते हैं। वह अपने बुद्धि कौशल द्वारा द्वीप में सुरा और स्वर्ण पर आश्रित नवीन सभ्यता का चतुर्दिक प्रचार कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त करता है।

विलास 'अपने शापग्रस्त और संघर्षपूर्ण देश की ज्वाला से दग्ध होकर' निकलता है। वह फूलों के द्वीप में आकर वहाँ के निवासियों की सरलता, निश्छलता आदि को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाता है। विलास महत्वाकांक्षी है। अतः वह कठोर संकल्प करता है—"ऐसी सीधी जाति पर शासन न किया, तो पुरुषार्थ ही क्या? इनमें प्रभाव फैलाकर अपने नये व्यक्तिगत महत्ता के प्रलोभन वाले विचारों का प्रचार करना होगा।" इस संकल्प के उदय होते ही उसे अपनी छाया से यह संकेत भी प्राप्त होजाता है—"बिना स्वर्ण और मदिरा का प्रचार किये तू इस पवित्र और भोली भाली जाति को पतित नहीं बना सकता।"

संकल्प और साधनों के सुनिश्चित होजाने पर विलास अपने कूट कौशल द्वारा बड़ी तत्परता से लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। विवेक के कथनानुसार "उसकी तीक्ष्ण आँखों में कौशल की लहर उठती है। मुस्कराहट में शीतल ज्वाला और बातों में भ्रम की बहिया है।" कामना तो उसके प्रथम साक्षात्कार

के बाद ही उसके रूप-वैभव के कारण उस पर मुग्ध हो जाती है। वह अपने सुरक्षित स्वर्ण के आलोक से द्वीप निवासियों की आँखों में चकाचौंध पैदा कर उन्हें भी अपनी ओर बरबस आकर्षित कर लेता है। विनोद, लीला तथा अधिकांश द्वीप निवासी उसकी दासता मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते है। वह एकाएक द्वीप का प्रभुत्व प्राप्त करना कठिन समझता है! कामना को द्वीप का नेतृत्व प्राप्त है; अतः वह यह निश्चय करता है—"जब तक कामना इस पद पर है, उसी बीच में अपना काम कर लेना है।" वस्तुतः कामना उसके कार्य्यसाधन की टट्टी है। वह उसकी उँगलियों पर नाचती है और इशारों पर चलती है। वह उसी को द्वीप की रानी बनाकर अपनी योजनाएँ प्रचारित करता है और अपना प्रभाव विस्तृत करता है।

विलास इतना कार्य-कुशल है कि वह अपनी मूल योजना को सहसा सामने नहीं लाता। प्रत्येक योजना को वह एक भूमिका द्वारा प्रस्तुत करता है। कामना को रानी बनाने के पूर्व वह द्वीप निवासियों के खेलों में कामना को रानी बनाता है और उसकी आज्ञा पालन का निर्देश करता है। इसी प्रकार द्वीप निवासियों में हिंसक वृत्ति का प्रचार करने के लिए वह बन पशुओं को भयभीत करने का निर्देश करता है। वह इसे विनोद और व्यायाम का सुगम साधन बताकर पशुओं की निर्मम हत्या कराता है और इस प्रकार हत्या, क्रूरता आदि का उनमें प्रचार करता है। वह अपनी योजनाओं के प्रस्ताव बड़े सरल और स्वाभाविक तर्कों और युक्तियों के साथ प्रस्तुत करता है जिसके कारण समस्त द्वीप वासी उसकी बातों को स्वीकार करलेते हैं। द्वीप में प्रथम बार राज्य सत्ता स्थापित कर राज्यादेश मान्य ठहराने में उसे कुछ विरोध और कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कामना ही जब उससे पूँछती है—"तुमने मुझे रानी क्यों

बनाया ?" तब वह उसे समझता है—"रानी, तुमको इसीलिए रानी बनाया कि तुम नियमों का प्रवर्तन करो। इस नियमपूर्ण संसार में क्या अनियन्त्रित जीवन व्यतीत करना मूर्खता नहीं है ?" इसी प्रकार वह नाटक के द्वितीय अंक के पाँचवें दृश्य में अपनी विस्तृत तर्कयुक्त वक्तृता द्वारा समस्त द्वीप वासियों को राज्यपद की आवश्यकता का बोध कराता है। राज्यशक्ति की स्थापना करने के बाद वह स्वयं प्रधान मन्त्री बन कर अन्य राज्याङ्गों की स्थापना करता है। कारागार, संग्रहालय, न्यायालय, सेना आदि की स्थापना के द्वारा द्वीप पर उसका प्रभुत्व क्रमशः दृढ़ हो जाता है।

विलास अपने स्वार्थ साधन में इतना पटु है कि वह अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व का भी प्रभाव अपने ऊपर नहीं जमने देता। कामना विलास पर पूर्णतया अनुरक्त है। वह बड़ी उत्कंठा पूर्वक विलास के साथ अपने विवाह की आकांक्षा करती है। किन्तु विलास अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए यही निश्चय करता है—"मैं उसको अपना हृदय-समर्पण नहीं कर सकता।" अतः वह कामना के समक्ष उसके झूठे महत्व का पर्दा खींच कर कहता है—"मैं तुम्हें ही इस द्वीप की एकच्छत्र अधिकारिणी देखा चाहता हूँ। × × × × तुम द्वीप भर में कुमारी ही बनी रहकर अपना प्रभाव विस्तृत करो यही तुम्हारे रानी बने रहने के लिए पर्याप्त कारण हो जायगा।"

विलास का हृदय क्रूर और कलुषपूर्ण है। वह शान्तिदेव की हत्या करने वालों का दण्ड-विधान करते हुए निर्देश करता है—"इसका दण्ड भी ऐसा होना चाहिए कि देखकर लोग काँप उठें, फिर कोई ऐसा दुस्साहस न करें।" वह द्वीप के पड़ोसी प्रदेश पर नृशंस आक्रमण कर वहाँ हत्या और रक्तपात का नग्न ताण्डव करता है तथा पराजित देश के सेनापति और उसकी स्त्री की क्रूरता-पूर्वक हत्या करवाता है।

विलास दृढ़ हृदयवान होकर भी लालसा के कटाक्षों से घायल हो उसके समक्ष प्रणय आकुलता व्यक्त करता है और अपनी पराजय स्वीकार करता है। वह लालसा से दिल खोलकर कहता है—"मेरी जीवन-यात्रा में इसी बात का सुख था कि मुझ पर किसी स्त्री ने विजय नहीं पाई; परन्तु वह झूठा गर्व था।" लालसा को अपनाने पर भी उसकी कामुकता प्रशमित नहीं होती। वह शत्रु-सेनापति की स्त्री पर अपनी पाप-दृष्टि डालता है और उसे बल-पूर्वक अपनाने की चेष्टा करता है। अपने प्रयत्नों में असफल होने पर विलास प्रतिहिंसा प्रेरित हो उस स्त्री की क्रूरता-पूर्वक हत्या करवा देता है।

विलास अपनी महत्वाकांक्षा का महल अनीति और अनाचार की नींव पर खड़ा करना चाहता है। उसकी कुशाग्र बुद्धि के कारण सरल हृदय द्वीप निवासियों के बीच उसकी दुर्नीति लता कुछ समय के लिए खूब फैलती है। उसके साथी दम्भ, दुर्वृत्त, क्रूर आदि उसकी सघन छाया में खूब फलते फूलते हैं। किन्तु उसकी दुर्नीति से प्रतिफलित अपराधों की आँधी और कुचक्रों का वात्याचक्र उसके बालुकामय महत्वाकांक्षा के प्रासाद को भूमिसात कर देते हैं। नवीन सभ्यता के विकास से प्रादुर्भूत पारस्परिक ईर्षा, मात्सर्य, प्रमाद, वासना, अनाचार का नग्न नृत्य द्वीप निवासियों को असह्य हो जाता है। विवेक की प्रबल हुँकार उनकी मोहनिद्रा को भङ्ग कर देती है। विलास के हाथों की कठपुतली कामना ही उसके अधिकार से मुक्त होकर उसकी विडम्बनाओं का खुला तिरस्कार कर देती है। द्वीप में राजा बनने का विलास का स्वप्न भङ्ग हो जाता है। विवेक और संतोष की सङ्गठित शक्ति के विरुद्ध अपनी डगमगाती हुई सत्ता को डूबने से बचाने का उसका अन्तिम क्षीण प्रयत्न अत्यन्त निष्फल सिद्ध होता है। अन्त में द्वीप से पालायन करके भी वह अपनी प्राणरक्षा नहीं कर

पाता। उसने द्वीप में जिस स्वर्ण का प्रभूत प्रचार कर उसे अपना अनुगामी बनाया था, द्वीप निवासियों द्वारा उसकी नौका पर फेंका गया वही स्वर्ण समुद्र गर्भ में उसकी अनन्त समाधि का कारण बन जाता है।

विलास का चरित्र व्यापकता एवं प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नाटक में वर्णित फूलों के द्वीप की समस्त नवीन हलचलों का केन्द्र विलास है। यद्यपि वह द्वीप में अपनी सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने में असफल होता है फिर भी वह अपने अद्भुत वाक्-विभ्रम और तीक्ष्ण बुद्धि-कौशल से द्वीप के नैसर्गिक जीवन में नवीन सभ्यता के उपकरण और उपादान प्रचलित करने में बहुत दूर तक सफल होता है। रानी से लेकर सामान्य स्त्री पुरुष तक उसके आदेशों और मंत्रणाओं को नत-मस्तक हो स्वीकार करते हैं। जीवन में उसकी असफलता का मूल कारण सम्भवतः लालसा के समक्ष उसकी पराजय स्वीकृति है। लालसा को अपनाकर वह कामना की सहानुभूति सर्वथा खो बैठता है। लालसा की विलासिता के प्रवाह को रोकने में वह स्वयं भी असमर्थ होता है। शत्रु सेनापति से लालसा को प्रणय-भिक्षा माँगते देखकर भी वह उसके विरुद्ध कुछ नहीं कर पाता। अतएव लालसा जनित वासनाओं की वहिया में उसकी महत्वाकांक्षा के महल की नींव खोखली हो जाती है। विलास के चरित्र द्वारा, मानव जाति के नैसर्गिक जीवन में नवीन सभ्यता के प्रसार की विविध दिशाओं एवं तज्जन्य दुरावस्थाओं का चित्रण ही नाटककार का परम अभीष्ट है और इसमें उसे पूर्ण सफलता मिली है।

विवेक

फूलों के द्वीप में विवेक अपनी सूक्ष्म तत्वदर्शिनी बुद्धि के कारण विलास के प्रभाव में नहीं आता। वह निर्भीक साहसी और स्पष्ट वक्ता है। वह विलास द्वारा प्रचारित नवीन सभ्यता के मायाजाल की विभीषिका को भली भाँति समझता है और द्वीप निवासियों को निरन्तर उसका परिचय कराता रहता है। विलास के मुख से वह प्रथम बार अपराध और पापों की चर्चा सुनते ही कह बैठता है—"परिवर्तन! वर्षा से धुले हुए आकाश की स्वच्छ चन्द्रिका, तमिस्रा से—कुहू से बदल जायगी। बालकों के से शुभ्र हृदय छल की मेघ माला में ढंक जाँयगे।" ज्यों ज्यों द्वीप में विलास कृत विडम्बना का प्रसार होता है त्यों त्यों विवेक का विरोध भी प्रबल होता जाता है। उसके हृदय में द्वीप के प्रति वास्तविक कल्याण भावना है, अतः वह अपने हृदय की बात दूसरों के समक्ष निर्भीकता-पूर्वक कहने में नहीं हिचकता। वह द्वीप निवासियों की आँखों का पर्दा हटाते हुए उन्हें वास्तविकता का परिचय कराता है—"व्यभिचार ने तुम्हें स्त्री सौन्दर्य का कलुषित चित्र दिखलाया है और मदिरा उस पर रङ्ग चढ़ाती है।"

विलास के स्वर्ण और सुरा की ओर विवेक हाथ नहीं बढ़ाता अतः द्वीप के अन्य निवासियों की अपेक्षा वह आडम्बर शून्य रूप में रहता है। द्वीप निवासी उसके नितान्त सादे वेष को देखकर उसकी उपेक्षा करते हैं। उसे अस्पृश्य, गन्दा, अछूत आदि कहकर उसका खुला तिरस्कार करते हैं। उसकी भर्त्सना-युक्त कठोर बातों के कारण उसे पागल की उपाधि प्रदान की जाती है और सभी जगहों से उसे बहिष्कृत किया जाता है। वह अपने

लिए पागल के सम्बोधन का स्वागत करता है—"मैं पागल हूँ! अच्छा है जो सज्ञान नहीं हूँ, इस बीभत्स कल्पना का आधार नहीं हूँ।

द्वीप में न्याय के नाम पर प्रचारित नृशंस हत्या के विरुद्ध विवेक की आत्मा तड़प उठती है। एक विद्रोही की भाँति पशुता का प्रतिकार करने के लिए वह मृत्यु की भी किञ्चित परवाह न कर कामना और विलास के समक्ष ही ललकार कर कहता है—"मेरी भी इस खुली छाती पर दो-तीन तीर! रक्त की धारा वक्षस्थल पर बहेगी, तो मैं भी समझूंगा कि तपा हुआ लाल सोने का हार मुझे उपहार में मिला है। रानी के सभ्य राज्य का जय-घोष करूँगा। लोहू के प्यासे भेड़ियो, तुम जब बर्बर थे, तब क्या इससे बुरे थे? तुम पहले इससे क्या विशेष असभ्य थे? आज शासन-सभा का आयोजन करके सभ्य कहलाने वाले पशुओ, कल का तुम्हारा धुँधला अतीत इससे उज्ज्वल था।" विवेक अपनी सत्यासत्य निरूपिणी वाणी का गम्भीर घोष द्वीप के प्रत्येक निवासी प्रत्येक स्त्री-पुरुष, कामना, विलास, विनोद आदि सभी के समक्ष करता है। वास्तव में वह सत्य-ज्ञान का मानों एक प्रकाश-पिण्ड है जो अपने आलोक से द्वीप-निवासियों को सत्पथ का निर्देश करता है और अपनी प्रखर उष्णता से उनके मृतप्राय विलास जर्जर शरीरों में नैसर्गिक शक्ति-सुधा का संचार करता है।

विवेक केवल वाक्शूर नहीं है। वह कठोर कर्मक्षेत्र में अवतरित होकर अपनी सेवा और सङ्गठन-शक्ति के द्वारा पीड़ितों को नवजीवन प्रदान करता है तथा उनमें वास्तविक चेतना को सचेष्ट कर द्वीप के उद्धार के लिए वह उन्हें सङ्गठित करता है। युद्ध में घायल व्यक्तियों की चिकित्सा करके वह उन्हें निरोग ही नहीं करता वरन् वह उन्हें सर्वथा अपने अनुकूल बना लेता है। पीड़ितों की रक्षा के लिए उसमें शारीरिक बल और दृढ़ता भी पर्य्याप्त है।

वह एक सैनिक से एक बालिका की रक्षा कर अपने शारीरिक बल का परिचय देता है। सैनिक द्वारा दी हुई मृत्यु की धमकी की लेशमात्र चिन्ता न करते हुए वह उसकी चुनौती को स्वीकार करता हुआ कहता है—"दूसरे की रक्षा में, पाप के विरोध और परोपकार करने में प्राणोंपण तक दे देने का साहस किस भाग्यवान् को होता है? नीच! आ देखूं तो।" विवेक झपट कर सैनिक का खड्ग-युक्त हस्त पकड़ लेता और वह विवश होकर उसकी आधीनता स्वीकार करता है। इसी प्रकार वह दुराचारियों के हाथों से सन्तोष और करुणा के जीवन और मर्य्यादा की रक्षा करता है।

विलास की वासना-आँधी में विवेक की वाणी कुछ समय तक तो अवश्य अरण्यरुदन सिद्ध होती है पर धीरे धीरे द्वीप निवासी उसकी बातों का रहस्य समझने लगते हैं। कामना को तो उसकी बातें सुनकर सिर में पीड़ा होने लगती है। विलास भी उसकी बातों पर विचार करने को कहता है। विनोद तो विवेक की बातों से प्रभावित होकर मधुर मिलन के अभिनय का मङ्गल पाठ पढ़ने की घोषणा मुक्तकण्ठ से करता है। अन्ततोगत्वा कामना, विवेक से लिपट कर ही वास्तविक शान्ति प्राप्त करती है और इस प्रकार विवेक के उद्योग से ही द्वीप का पुनरुद्धार होता है।

संतोष

सन्तोष गम्भीर और शान्त प्रकृति का पुरुष है। वह अपने लिए प्रस्तुत स्वल्प साधनों से सन्तुष्ट रहने वाला है। अनन्त जलराशि का अतिक्रमण कर वह नवीन सुख साधनों की इच्छा नहीं रखता। उसे अपना अविवाहित जीवन भी दूभर नहीं प्रतीत होता और वह विनोद से स्पष्ट शब्दों में कहता है—"मैं सन्तुष्ट हूँ—मुझे ब्याह की आवश्यकता नहीं।"

सन्तोष के हृदय में कामना के प्रति वास्तविक अनुराग है। वह जब लीला द्वारा कामना और विलास के विवाह की चर्चा सुनता है तो उस पर सहज ही विश्वास नहीं करता और उसका विरोध करने का भी वह विचार करता है। नाटक के तृतीय अङ्क के द्वितीय दृश्य में वह स्वयं अपना प्रणय-भाव कामना के प्रति स्पष्ट करता है; कामना के प्रति अनुराग रखते हुए भी वह उसकी चञ्चल भावभङ्गियों के कारण उसके प्रति उदासीनता ही पहिले प्रकट करता है—"मैं तो उससे अलग रहा चाहता हूँ।" किन्तु कामना के प्रति उदासीन होने पर भी वह लीला के प्रणय प्रस्ताव को सहसा स्वीकार नहीं करता। लीला यद्यपि बड़े उल्लासपूर्ण शब्दों में उससे कहती है—"हाँ प्रियतम इस पूर्णिमा को हमलोग एक हो जाँयगे।" पर सन्तोष उससे यही कहकर टाल देता है—"तो मैं विचार करूँगा। तुम्हारे पथ पर मैं चल सकूँगा।" सन्तोष के इस कथन से उसके स्वभाव की गम्भीरता तथा व्यक्तियों के परखने की शक्ति भी व्यंजित होती है। कामना अपनी उद्दाम वासनाओं की मृगतृष्णा में जब चारों ओर से सन्तप्त होकर मनःपूत हो जाती है और नैसर्गिक जीवन में वास्तविक सुख और शान्ति अनुभव करने

लगती है तब उसकी सारी चञ्चलता दूर हो जाती है। संतोष, कामना को सर्वथा प्रकृतिस्थ देखकर उसे सहर्ष स्वीकार करता है।

संतोष के चरित्र में नाटककार ने आरम्भ में उसकी स्वभावगत कुछ विशिष्टताओं का ही निर्देश किया है। वह द्वीप की हलचलों में कोई विशेष भाग लेता नहीं दिखाई पड़ता। केवल एक स्थान पर वह विलास की प्रत्यक्ष आलोचना करता एवं द्वीप के पतन पर खेद प्रकट करता हुआ दिखाई पड़ता है। किन्तु आगे चलकर लोक सेवा के कार्यों में उसे हम संलग्न देखते हैं। मृतक शान्तिदेव की आश्रय-विहीन बहिन करुणा की सहायता में वह पूर्ण उत्साह से तत्पर होता है। वह करुणा को मृदुल शब्दों में सान्त्वना देते हुए कहता है—"जिसका कोई नहीं है, मैं उसी का होकर देखूँगा कि इसमें क्या सुख है।" वह करुणा के साथ उसके खेतों में परिश्रम-पूर्वक कार्य करता है तथा उसके लिए अनेक कष्ट सहता हुआ वह दुर्वृत्त व्यक्तियों से उसके चरित्र और सम्मान की रक्षा करता है। वैभव और प्रभुत्व की रक्षा के लिए विलास के अन्तिम प्रयासों को वह अपने सैन्यबल से विफल करता है।

'कामना' नाटक का नायक संतोष ही माना जायगा। उसमें धीरोदात्त नायक के अधिकांश गुण हैं और नाटक के अन्त होने पर नायिका कामना की उपलब्धि उसी को होती है। उसके प्रयत्नों से ही प्रतिनायक विलास का अन्त होता है। यद्यपि विलास की अपेक्षा उसका चरित्र विकास स्वल्प है। विलास के अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व के समक्ष उसका व्यक्तित्व चेष्टा विहीन एवं प्रभावशून्य प्रतीत होता है फिर भी नाटक के प्रारम्भ और अन्त में उसकी जो स्थिति है, नाटक की परिणति में उसका जो महत्वपूर्ण भाग है तथा नायिका कामना से उसका जो घनिष्ट सम्बन्ध है उसके कारण हमें उसे ही नाटक का नायक मानने को विवश होना पड़ता है।

विनोद

विनोद सरल और सच्ची प्रकृति का पुरुष है। फिर भी वह नवीनता और परिवर्तन का प्रेमी है। उसे अपनी गृहस्थी व्याह के बिना सूनी प्रतीत होती है अतः वह लीला की सरलता पर प्रसन्न ही नहीं वरन् मुग्ध होकर, उससे व्याह करना चाहता है। किन्तु जब लीला, सन्तोष की ओर ढुलकने लगती है तो वह सन्तोष की मित्रता के नाते उससे मिलना भी बन्द कर देता है। फिर भी कामना के प्रयासों से उसका विवाह लीला से हो ही जाता है। लीला से विवाह होने के बाद विनोद के जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ होता है। वह लीला के प्रेम-बन्धन में पड़कर उसके कहने से कामना द्वारा दी हुई पेया को स्वीकार करता है और वह स्वर्ण के लोभ से विलास की दासता भी स्वीकार कर लेता है। वह विलास के सुरा-स्वर्ण-चक्र में पड़कर भी मानों अपने आत्मस्वरूप को पहिचानता हुआ लीला से एकबार कहता है—"परन्तु लीला, हम लोग कहाँ चले जारहे हैं, कुछ समझ रही हो ? समझ में आने की ये बातें हैं ?" किंतु लीला सुरा के साथ ही उसे अपने सौन्दर्य की घूँटी पिलाकर उसे सर्वथा आत्मविभोर कर देती है और वह आँख बन्द कर द्वीप में नवीन सभ्यता के रूप में हत्या, व्यभिचार, विलासिता आदि के प्रचार और प्रसार में सहायक होता है। वह इतना बड़ा मद्यप हो जाता है कि मदिरा के अतिपान के कारण ही वह अन्य देश पर आक्रमण करने के लिए सैन्य संचालन में भी सर्वथा असमर्थ हो जाता है। सुरा का प्रभाव उसके मस्तिष्क तक ही नहीं रहता वरन् उसका हृदय भी उससे आक्रांत होजाता है। वह विलासी

और निष्ठुर हत्यारा बन जाता है। वह लीला के समक्ष ही, मानों उसके प्रति अपने पवित्र प्रेम पर अर्गला लगाता हुआ लालसा को अपनी अङ्कगामिनी बनाता है। लीला उसकी निष्ठुरता की चर्चा करती हुई स्वयं कहती है—"वह तो एक निष्ठुर हत्यारा हो गया है। उसे मृगया से अवकाश नहीं।"

विनोद दृढ़प्रतिज्ञ एवं पराक्रमी है। वह एक बार जिसे जो वचन दे देता है उस पर वह सदैव आरूढ़ रहता है। वह कामना को रानी मानकर उसकी प्रत्येक आज्ञा का अक्षरशः पालन करता है। विलास उसके स्वभाव की इसी विशेषता को परख कर उसे द्वीप का सेनापति नियुक्त करता है। उसके नायकत्व में द्वीप में सफल सैन्य-संग्रह होता है तथा न्याय और विग्रह आदि बड़ी सफलता पूर्वक सम्पादित होते हैं। वह बड़े उत्साह पूर्ण शब्दों में द्वीप निवासियों को स्वर्ण संग्रह के लिए उत्साहित करता है—"यदि वीर हो, तो चलो—वीरभोग्या तो वसुन्धरा होती ही है। उस पर जो पदाघात करता है, उसे वह हृदय खोल कर सोना देती है।" इससे उसका रणोत्साह और पराक्रम भी प्रकट होता है।

विनोद वस्तुतः स्वयं दुःशील नहीं है। वह विलास द्वारा प्रचारित सुरा एवं स्वर्ण के प्रभाव से हृदय की सात्विकता को खोकर कुछ समय के लिए क्रूर, लोभी एवं विषयासक्त तो अवश्य हो जाता है किन्तु ज्योंही कामना, विलास की सभ्यता का पर्दा फ़ाश करती है कि विनोद की भी आखें खुल जाती हैं और वह भी विवेक के कण्ठ में कण्ठ मिलाकर पुकार उठता है—"आओ, हम सब उस मधुर मिलन के योग्य हों। उस अभिनय का मङ्गलपाठ पढ़ें।" विनोद के चरित्र में यह परिवर्तन यद्यपि आकस्मिक है किन्तु द्वीप निवासियों की आशुपरिवर्तशीला सरल प्रकृति के सर्वथा अनुरूप है।

विनोद का चरित्र सर्वथा व्यक्तित्व शून्य नहीं है। सुदृढ़ मैत्री भावना, विश्वासपात्रता एवं पराक्रम आदि उसके स्वभाव की कुछ निजी विशेषतायें हैं जिनके कारण वह द्वीप में एक महत्वपूर्ण पद ग्रहण करता है। उसके चरित्र में दुर्गुणों का प्रादुर्भाव वाह्य प्रभाव जनित है। उसके दूर होते ही उसके चरित्र की निर्मलता प्रकट हो जाती है।

कामना

फूलों के द्वीप में कामना सर्वप्रिय युवती है। कामना सी लड़की द्वीप भर में नहीं है। द्वीपवासियों के उपासना-गृह का नेतृत्व उसी के हाथ में है। सभी स्त्री, पुरुष और बालक उसका सम्मान करते हैं। बालकों तक को खेल-कूद में कामना का अभाव खटकता है। कामना, भावुक और सरल है किन्तु वह अपने हृदय की चंचलता से आन्तरिक शान्ति और शीतलता खो बैठती है। वह अपने साथ ही द्वीप निवासियों को भी नैतिक पतन के गर्त में बहुत दूर तक घसीट ले जाती है। कामना के स्खलन के साथ ही उसके द्वीप निवासियों का पतन होता है तथा उसके सँभलने के साथ ही द्वीप का पुनरुत्थान होता है।

कामना के हृदय की चंचलता का आभास नाटक में उसके प्रवेश करते ही प्राप्त होता है। वह द्वीप की निश्चेष्ट शान्ति से आकुल सी रहती है। उसका प्रेमी सन्तोष यद्यपि उसके हृदय के समीप है फिर भी वह उसे केवल 'आलस के विश्राम का स्वप्न दिखाता है,' और इसीलिए वह इस निष्कर्ष पर पहुंचती है—"अकर्मण्य सन्तोष से मेरी पटेगी ? नहीं।" वह लीला के सामने खेदयुक्त हो स्वीकार करती है—"मेरा हृदय रिक्त है। मैं अपूर्ण हूँ।

कामना भावुक रमणी है। उसके हृदय में उद्दाम प्रेम की भावना अधिष्ठित है। पहिले वह सन्तोष के साथ अपने हृदय की समीपता का अनुभव करती है। किन्तु कामना की अस्थिर भावभङ्गियों से जब सन्तोष को उसके प्रणय-भाव की अनिश्चितता अनुभूत होती है तो वह उससे अलग रहने की अपनी इच्छा विनोद के सामने व्यक्त करता है। कामना अपने प्रति सन्तोष की इस

हिचक का अनुभव कर कृतसंकल्प होती है—"सन्तोष मुझसे डरता है, तो मैं भी उससे सबको डराऊँगी।"

विलास के रूप में कामना को आत्मतुष्टि का उपयुक्त साधन एवं आधार प्राप्त होजाता है। द्वीप में विलास के प्रवेश करते ही, कामना उसके वैभवपूर्ण आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होजाती है और अपनी स्वाभाविक सरलता के अनुरूप वह सर्वतोभावेन उसके सामने आत्म-समर्पण कर देती है।

विलास के साथ प्रणय सम्बन्ध स्थापित कर कामना अपने हृदय की भूख मिटाने के लिये आकुल हो उठती है। वह अपनी एक स्वगतोक्ति में कहती है—"मेरे भीतर का बाँकपन सीधा होगया है। मेरा गर्व उसके पैरों पर लोटने लगा है। .. .. विलास! तुम्हारे दर्शन में सुख भोगने के नये नये आविष्कारों से मस्तिष्क भर दिया गया है। क्लांति और श्रान्ति मिलने के लिए जैसे सकल इन्द्रियाँ परिश्रम करने लगी हैं—विलास!" वह विलास के समक्ष मुक्तकण्ठ से स्वीकार करती है—'मैं अपनी नहीं रह गई हूँ प्रिय विलास! क्या कहूँ।" कामना के प्रति विलास का मनोभाव स्वार्थयुक्त है। वह उसे अपने कार्य्य-साधन का अस्त्र ही बनाकर रखना चाहता है। वह कामना को 'एक सुन्दर रानी होने के योग्य प्रभावशालिनी स्त्री' के रूप में ही देखता है। अतः वह यही निश्चय करता है—"मैं उसको अपना हृदय समर्पण नहीं कर सकता।" वह अत्यन्त कौशल से कामना को समझाता है—"तुम द्वीप भर में कुमारी बनी रह कर अपना प्रभाव विस्तृत करो यही तुम्हारे रानी बने रहने के लिए पर्य्याप्त कारण हो जायगा।"

विलास को प्राप्त करने की कामना की आशाएँ उस समय सर्वथा लुप्त हो जाती है जब वह लालसा के साथ विवाह बन्धन में बँध जाता है। कामना उस दृश्य को यूथ से अलग खड़ी हो बड़े खेद और आश्चर्य के साथ देखती रह जाती है। विलास की

प्रतारणाओं से कामना का हृदय जर्जर होजाता है। ब्याह का नाम सुनते ही मानों वह तिलमिला कर अपनी सखी से कहती है—"चुप मूर्ख ! मैं पवित्र कुमारी हूँ। मैं सोने से लदी हुई, परिचारिकाओं से घिरी हुई, अपने अभिमान-साधना की कठिन तपस्या करुँगी। अपने हाथों से जो विडम्बना मोल ली है, उसका प्रतिफल कौन भोगेगा ? उसका आनन्द, उसका ऐश्वर्य और उसकी प्रशंसा, क्या इतना जीवन के लिये पर्य्याप्त नहीं है।" कामना के इस कथन की व्यंग्योक्तियों द्वारा उसके हृदय का क्षोभ एवं आत्मग्लानि स्पष्टतया व्यंजित होते है। विलास को हृदय देकर उसे जो आत्म-विडम्बना भोगनी पड़ती है उसी की अभिव्यक्ति इस कथन में है। सन्तोष के समक्ष कामना अपने दुःखों के ज्वालामुखी पर संयम का आवरण बड़ी कठिनता से डालती हुई केवल इतना ही कह पाती है—"मेरे दुखों को पूछ कर और दुःखी न बनाओ।" फिर भी इससे उसकी ऐकान्तिक वेदना का स्पष्ट बोध होता है।

विलास की प्राप्ति अभिलाषाओं में कामना अपने पूर्व प्रणयी सन्तोष को सर्वथा विस्मृत नहीं कर देती। लीला जब सन्तोष को अपना पति निर्धारित कर उसके साथ विवाह करना चाहती है तो कामना उससे स्पष्ट ही कह देती है—"वह मेरा निर्वाचित है ! मैं चाहे ब्याह करूँ या नहीं, परन्तु वह तो सुरक्षित रहेगा...।" विलास से सर्वथा निराश हो एवं उसकी वास्तविकता का अनुभव कर उसका त्याग कर देने पर कामना का अपना पूर्व प्रेमी सन्तोष प्राप्त हो जाता है जिससे वह यथार्थ रूप से सुखी होती है।

विलास के सम्पर्क में आते ही कामना का व्यक्तित्व हलका होने लगता है। वह, उसकी कुटिल मन्त्रणाओं को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करती जाती है। स्वर्ण और मदिरा को वह बड़े उल्लास के साथ स्वीकार करती है और लीला, विनोद तथा अन्य द्वीपनिवासियों

में खुलकर उनका प्रचार करती है। वह विलास के स्वर्ण और मदिरा में आत्मविभोर हो द्वीप की परम्पराओं का भी अतिक्रमण करने लगती है। पवित्र पक्षियों के संदेश के स्थान पर वह द्वीपवासियों को नवीन पुरुष द्वारा पिता का सन्देश सुनने के लिये प्रेरित करती है। अपराध, दण्ड आदि भावनाओं के प्रचार में वह प्रत्यक्ष रूप से सहायक होती है। विलास की कुटिल योजनाओं को आँख बन्द कर स्वीकार करती हुई वह द्वीप की रानी बन जाती है और मन्त्री, सेनापति, न्यायालय, कारागर आदि की स्थापना में सहायक हो वह राज्यचक्र का पूरा स्वांग खड़ा कर देती है। वह स्वर्ण प्राप्ति के लिये अन्य देश पर आक्रमण कराती है। द्वीप के नैसर्गिक जीवन में इस नवीन सभ्यता के प्रवेश के कारण हत्या, व्यभिचार, द्वेष, स्वार्थ आदि का जब विषाक्त प्रभाव उग्र रूप से प्रकट होने लगता है तभी उसकी आँखे खुलती हैं। वह अपने देशवासियों के समक्ष परम उत्तेजित होकर कहती है—"यदि राजकीय शासन का अर्थ हत्या और अत्याचार है, तो मैं व्यर्थ रानी बनना नहीं चाहती। मेरी प्रजा इस बर्बरता से जितना शीघ्र छुट्टी पावे, उतना ही अच्छा। (मुकुट उतारती हुई) यह लो, इस पाप-चिन्ह का बोझ अब मैं नहीं वहन कर सकती। यथेष्ट हुआ। प्यारे देशवासियो, लौट चलो, इस इन्द्रजाल की भयानकता से भागो। मदिरा से सिचे हुए चमकीले स्वर्णवृक्ष की छाया से भागो।"

कामना विलास के सम्पर्क में आने पर अपना पूर्व गौरव भी बहुत कुछ खो देती है। वह अपने व्यवहारों से बहुतों की आलोचना एवं निन्दा का विषय बन जाती है। द्वीप की एक स्त्री उसकी आलोचना करती हुई कहती है—"केवल एक चमकीली वस्तु उसके सिर पर थी।.....उसे सिर में बाँध कर कामना बड़ी इठलाती हुई सबसे बातें कर रही है।" विवेक खुले शब्दों में कामना की निन्दा

करता है—"मदिरा से ढुलकती हुई, वैभव के बोझ से दबी हुई, महत्वाकांक्षा की तृष्णा से प्यासी, अभिमान की मिट्टी की मूर्ति।"

यद्यपि यह यथार्थ है कि कामना ने विलास के सहवास में रह कर अपने पूर्व रूप को बहुत कुछ नष्ट कर दिया फिर भी उसके अन्तः-करण में स्वाभिमान एवं विवेक समय समय पर सजग हो जाते हैं। विनोद और लीला स्वर्ण से पराभूत हो जब विलास की दासता स्वीकार करते हैं तब मानों कामना तिलमिला कर कहती है—"नहीं, नहीं तुम इतने दीन होकर इस ज्वाला की भीख मत लो।" इसी प्रकार निरीह पशुओं की अकारण हत्या से आकुल होकर वह कहती है—"परन्तु विलास, देखो यह हरी-हरी घास रक्त से लाल रँगी जाकर भयानक हो उठी है, यहाँ का पवन भारा-क्रांत होकर दबे पाँव चलने लगा।" हत्या, व्यभिचार आदि दुर्वृत्तियों के अतिचार से कामना का विवेक अधिक पुष्ट होकर सजग होता है और वह विलास के कृत्रिम उपकरणों एवं आडम्बर-पूर्ण योजनाओं को एक साथ तिलांजलि दे देती है। कामना के उत्थान और पतन के साथ द्वीप का भी उत्थान पतन होता है। सन्तोष के कथनानुसार वह द्वीप में यथार्थ ही बड़ी 'प्रभावशालिनी' स्त्री है।

लीला

लीला स्वभाव से चंचल एवं नवीन वस्तुओं तथा व्यक्तियों से शीघ्र प्रभावित होने वाली युवती है। वह कामना की अत्यन्त विश्वासपात्र सहचरी है। स्वर्ण को देखकर उसकी चमक से वह अत्यन्त प्रभावित होती है और उसकी प्राप्ति के लिये उसके हृदय में तीव्र उत्कण्ठा सजग होती है। वह कामना के कहने से मदिरा भी पान करती है तथा उसके स्वाद और मादकता के कारण उसके प्रति उसकी सतृष्ण लालसा सदैव जागरूक रहती है। लीला का व्यक्तित्व विशेष प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण तो नहीं है किन्तु नारी समाज में कामना के पश्चात् द्वीप में उसका ही प्रभाव विशेष लक्षित होता है। कामना के बाद स्वर्ण और मदिरा को सर्वप्रथम अपनाने में उसी का स्थान है। विलास के निर्देश अङ्गीकार करने में कामना के पश्चात् वही अग्रणी है। वह मानों आँख बन्द कर विलास और कामना का अनुगमन करती है। लीला ही सर्वप्रथम कामना को रानी के रूप में स्वीकार करती है और समस्त द्वीप निवासी उसका अनुकरण करते हैं।

लीला पहिले तो विनोद को ही बहुत चाहती है पर कुछ समय के लिए उसका ध्यान उससे हट जाता है और सन्तोष को वह अपना पति बनाने के लिए उतावली प्रतीत होती है। वह बड़ी ललक से सन्तोष से कहती है—"हाँ प्रियतम! इस पूर्णिमा को हम लोग एक हो जाँयगे।" किन्तु कामना उसके स्वप्न को शीघ्र ही भङ्ग कर देती है। कामना से यह अवगत कर कि संतोष उसका निर्वाचित है वह विनोद से ही विवाह करने को बाध्य होती है। विवाह हो जाने पर विनोद के साथ लीला का दाम्पत्य जीवन अबाध रूप से व्यतीत होता है।

लीला स्वर्ण और सुरा के प्रभाव से इतना मदान्ध हो जाती है कि वह वन-लक्ष्मी के उपदेशपूर्ण आदेशों की सर्वथा उपेक्षा कर देती है। वन-लक्ष्मी उसे यह स्पष्ट संकेत देती है—"अभिशाप तो तुम स्वयं इस द्वीप को दे रही हो।" परन्तु लीला उस पर ही ईर्ष्या और जलन का अभियोग लगा कर उसकी भर्त्सना करने को उद्यत होती है। अन्त में वन लक्ष्मी उसे स्पष्ट रूप से समझाती हुई कहती है—"मेरी प्यारी-लीला! मान जा। कहे जाती हूँ, जिस दिन तूने उस चमकीली वस्तु के लिये हाथ पसारा, उसी दिन इस देश की दुर्दशा का प्रारम्भ होगा।" वनलक्ष्मी के इस कथन से द्वीप के पतन में लीला का भी दायित्व प्रकट होता है। लीला स्वर्ण एवं सुरा द्वारा सुख प्राप्ति में इतनी तल्लीन है कि वह विनोद की इस जिज्ञासा की भी अवहेलना कर देती है—"लीला, हम लोग कहाँ चले जारहे हैं, कुछ समझ रही हो?" किन्तु आगे चल कर जब वह लालसा को अपनी विषयवासना में विनोद को आवेष्टित करता हुआ देखती है और इस प्रकार जब उसके ही स्वार्थों में ठोकर लगती है तभी उसकी आखें खुलती हैं। वास्तविकता का यथार्थ अनुभव होने पर वह कामना के कण्ठ में कण्ठ मिलाकर कहती है—"जितने भूले भटके होंगे, वे इन्हीं पागलों के पीछे चलेंगे। हम अपने फूलों के द्वीप से काँटों को चुनकर निकाल बाहर करेंगे।" इस प्रकार लीला आत्मसुधार की ओर अग्रसर हो अपने द्वीपनिवासियों के सुसंस्कारों के पुनरुत्थान का पथ प्रशस्त करती है।

लालसा

शान्तिदेव की स्त्री लालसा अपने पति की दस्युओं द्वारा हत्या होने के पश्चात प्रभूत स्वर्णराशि की स्वामिनी होजाती है। सम्पत्ति प्राप्ति के साथ उसके हृदय में अधिकार एवं महत्व प्राप्त करने की आकांक्षा तीव्र रूप से जागृत होती है। वह अपनी कार्य सिद्धि के लिए विलास को ही अपना उपयुक्त साधन निर्धारित करती है—"मैं भी रानी हो सकती हूँ, यदि विलास को—हाँ, क्यों नहीं।" वह अपने वाक् विभ्रम, सङ्गीत और स्वर्ण की चमक से विलास को अपनाने में पूर्ण सफल होती है। अपराजित विलास, लालसा के समक्ष मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है—"मुझ पर किसी स्त्री ने विजय नहीं पाई; परन्तु वह झूठा गर्व था। आज—"

विलास को अपने वश में करके लालसा द्वीप का संचालन सूत्र मानों कुछ समय के लिये अपने हाथों में ले लेती है। पड़ोसी प्रदेश में प्रभूत स्वर्णराशि का प्रलोभन दिखाकर वह विनोद और विलास के नायकत्व में उस पर सैनिक आक्रमण कराती है। उसकी प्रेरणा से शान्तिदेव के हत्यारों का न्याय-विधान होता है और अत्यन्त निर्ममतापूर्वक उनकी हत्या की जाती है। फूलों के द्वीप में आधुनिक सभ्यता के प्रतीक धर्मसंघ, न्यायालय एवं विषयवासना के विविध उपादानों की स्थापना में लालसा का बहुत बड़ा हाथ है।

लालसा अपने कार्य-साधन में अत्यन्त पटु है। वह बड़े कौशल से विलास को सर्वथा अपनी मुट्ठी में करती है। उसकी विषय-वासना अत्यन्त तीव्र है। विलास को युद्ध-भूमि में भेजकर

वह विनोद के साथ विषय-सुख प्राप्त करने के लिये तत्पर होती है। इतना ही नहीं, वरन् वह शत्रु-देश के सेनापति को देखकर उससे भयभीत होने के बजाय उसपर अनुरक्त हो जाती है। शत्रु-सेनापति उसकी प्रणय-भिक्षा को ठुकरा देता है। लालसा कुटिल कौशल द्वारा उसे उसकी अपहृत पत्नी वापस दिलाने का वचन देकर उसपर बलात्कार का झूठा अभियोग लगाती है और वह उसकी निर्दयता पूर्वक हत्या करा देती है। वैभव और वासना के पङ्क में फँसी हुई निर्लज्ज नारी के सभी दोष और दुर्गुण लालसा में मानों कूट-कूट कर भरे हैं।

फूलों के द्वीप में विलास के गौरव-विहीन होने के साथ ही लालसा का भी प्रभुत्व मिट जाता है और वह विलास के साथ ही 'अनन्त समुद्र में, काल के काले परदे में,' स्थान पाने के लिये द्वीप से निकल पड़ती है।

कुटिलता, क्रूरता और विलासिता में लालसा अप्रतिम है। विलास ऐसे छद्मवेशी एवं कुटिल व्यक्ति को अपने वाक्-भ्रम तथा कटाक्षपात से शक्तिहीन कर उसे अपना सर्वथा अनुगत बना लेना उसके व्यक्तित्व की प्रभविष्णुता को सूचित करता है। महत्वाकांक्षाओं की दौड़ में भी वह विलास से पीछे नहीं है। पड़ोसी प्रदेश पर आक्रमण करवाने तथा नव-नगर-निर्माण में लालसा का ही प्रमुख हाथ है। लालसा की विलासिता के सम्मुख तो विलास भी मात खा जाता है। वह उसे शत्रु-सेनापति से प्रणय-भीख माँगते हुए देखकर भी उसके विरुद्ध कुछ नहीं करता। जिस तरह कामना, विलास के हाथ की कठपुतली बन कर अपना व्यक्तित्व खो बैठती है उसी प्रकार विलास भी लालसा को अपना कर आत्म-गौरव से वञ्चित हो जाता है। लालसा अपने साथ विलास को भी ले डूबती है।

करुणा

'कामना' नाटक में करुणा चरित्र का विकास अपेक्षाकृत स्वल्प होने पर भी उसका चित्रण बड़ा मर्मस्पर्शी है। वह शान्तिदेव की बहिन है। शान्तिदेव की मृत्यु के पश्चात् लालसा उसकी समस्त सम्पत्ति पर अधिकार कर लेती है। करुणा द्वीप में नितान्त अकिञ्चन एवं उपेक्षित जीवन व्यतीत करती है। द्वीप में 'जीवन के समस्त प्रश्नों के मूल में अर्थ का प्राधान्य' हो जाने के कारण उसे जङ्गली फलों पर ही निर्वाह करना पड़ता है। वह सन्तोष के समक्ष अपनी दयनीय दशा का हृदय द्रावक वर्णन करती हुई कहती है—"मैं अपनी निर्धनता के आँसू पीकर सन्तोष करती हूँ और लौटकर इसी कुटीर में पड़ रहती हूँ।"

समस्त द्वीप में करुणा की दयनीय दशा से द्रवित होकर उसके प्रति सच्ची सहानुभूति करने वाला व्यक्ति केवल सन्तोष है। वह उसे अपनी बहिन बनाकर उसके दुःखों में हाथ बटाने का वचन देता है। सन्तोष अपने शारीरिक कष्टों की किञ्चित परवाह न कर उसके खेतों में काम करता है। करुणा भी सन्तोष के प्रति बड़ा ममत्व रखती है। सन्तोष के घायल होने पर वह उसे चिकित्सक के यहाँ अनेक कठिनाइयों का सामना करती हुई लेजाती है। द्वीप के विलासी और स्वार्थी युवक करुणा और सन्तोष की दुःखपूर्ण परिस्थिति से लाभ उठाना चाहते हैं। क्रूर, सन्तोष की चिकित्सा के बहाने उसके रोग को बढ़ाकर उससे लंबी रकम ऐंठने की चेष्टा करता है और दम्भ, करुणा को प्रमदा के देवदासी दल में सम्मिलित करने का कुचक्र रचता है। विवेक की सहायता से दोनों के प्राण और सम्मान की रक्षा होती है।

नाटकीय दृष्टि से करुणा का चरित्र अत्यन्त सामान्य कोटि का है। नाटक के वस्तु—विकास में उसकी जीवन घटनाओं का विशेष योग नहीं है और सन्तोष के चरित्र को छोड़कर नाटक के किसी अन्य प्रधान पात्र के चरित्र विकास में भी उसका प्रभाव नहीं है। नाटककार ने वस्तुतः नवीन सभ्यता के विकास में सात्विक नारी-जीवन की कष्टमय स्थिति का मार्मिक निदर्शन करुणा के चरित्र में कराया है। करुणा के कष्टमय जीवन का हृदयग्राही प्रत्यक्षीकरण होने से वह सामाजिकों की सहानुभूति प्राप्त करने में यथार्थतः पूर्ण सफल है।